हिन्दी भाषा की उत्पत्ति

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२५

...न संस्करण] [मूल्य ।=)

अध्यायानुक्रम ।

भूमिका

कुछ समय से विचारशील जनों के मन में यह बात आने लगी है कि देश में एक भाषा और एक लिपि होने की बड़ी ज़रूरत है, और हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि ही इस योग्य है। हमारे मुसलमान भाई इसकी प्रतिकूलता करते हैं। वे विदेशी फ़ारसी लिपि और विदेशी भाषा के शब्दों से लबालब भरी हुई उर्दू, को ही इस योग्य बतलाते हैं। परन्तु वे हमसे प्रतिकूलता करते किस बात में नहीं? सामाजिक, धार्म्मिक, यहाँ तक कि राजनैतिक विषयों में भी उनका हिन्दुओं से ३६ का सम्बन्ध है। भाषा और लिपि के विषय में उनकी दलीलें ऐसी कुतर्कपूर्ण, ऐसी निर्बल, ऐसी सदोष और ऐसी हानिकारिणी हैं कि कोई भी न्यायनिष्ठ और स्वदेशप्रेमी मनुष्य उनसे सहमत नहीं हो सकता। बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्र और मदरासी तक जिस देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा को देश-व्यापी होने योग्य समझते हैं वह अकेले मुट्ठी भर मुसल्मानों के कहने से अयोग्य नहीं हो सकती। आबादी के हिसाब से मुसलमान इस देश में हैं ही कितने? फिर थोड़े होकर भी जब वे निर्जीव दलीलों से फ़ारसी लिपि और उर्दू भाषा की उत्तमता की घोषणा देंगे तब कौन उनकी बात सुनेगा? अतएव इस विषय में और कुछ कहने की ज़रूरत नहीं—पहले ही बहुत कहा जा चुका है।

अनेक विद्वानों ने प्रबल प्रमाणों से हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि की योग्यता प्रमाणित कर दी है।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति कहाँ से है? किन पूर्ववर्त्ती भाषाओं से वह निकली है? वे कब और कहाँ बोली जाती थीं? हिन्दी को उसका वर्त्तमान रूप कब मिला? उर्दू में और उसमें क्या भेद है? इस समय इस देश में जो और भाषायें बोली जाती हैं उनका हिन्दी से क्या सम्बन्ध है? उसके भेद कितने हैं? उसकी प्रान्तिक बोलियाँ या उपशाखायें कितनी और कौन-कौन हैं? कितने आदमी इस समय उसे बोलते हैं? हिन्दी के हितैषियों को इन सब बातों का जानना बहुत ही ज़रूरी है। और प्रान्तवालों को तो इन बातों से अभिज्ञ करना हम लोगों का सब से बड़ा कर्तव्य है क्योंकि जब हम उनसे कहते हैं कि आप अपनी भाषा को प्रधानता न देकर हमारी भाषा को दीजिए—उसी को देश-व्यापक भाषा बनाइए—तब उनसे अपनी भाषा का कुछ हाल भी तो बताना चाहिए। अपनी भाषा की उत्पत्ति, विकास और वर्तमान स्थिति का थोड़ा-सा भी हाल न बतलाकर, अन्य प्रान्तवालों से उसे क़बूल कर लेने की प्रार्थना करना भी तो अच्छा नहीं लगता।

इन्हीं बातों का विचार करके हमने यह छोटीसी पुस्तक लिखी है। इसमें वर्त्तमान हिन्दी की बातों की अपेक्षा उसकी पूर्ववर्तिनी भाषाओं ही की बातें अधिक हैं। हिन्दी की उत्पत्ति के वर्णन में इस बात की ज़रूरत थी। बंगाले में भागीरथी के किनारे रहनेवालों से यह कह देना काफ़ी नहीं कि गङ्गा हर-

द्वार से आई हैं या वहाँ उत्पन्न हुई हैं। नहीं, ठेठ गङ्गोतरी तक जाना होगा, और वहाँ से गङ्गा की उत्पत्ति का वर्णन करके क्रम-क्रम से हरद्वार, कानपुर, प्रयाग, काशी, पटना होते हुए बंगाले के आखात में पहुँचना होगा। इसी से हिन्दी की उत्पत्ति लिखने में आदिम आर्यों की पुरानी से पुरानी भाषाओं का उल्लेख करके उनके क्रमविकास का हाल लिखना पड़ा है। ऐसा करने में पुरानी संस्कृत, वैदिक संस्कृत, परिमार्जित संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन देना पड़ा है। प्रसङ्ग-वश मराठी, गुजराती, बँगला, आसामी, पहाड़ी, पंजाबी आदि भाषाओं का भी उल्लेख करना पड़ा है और यह भी लिखना पड़ा है कि इन भाषाओं और उपभाषाओं के बोलनेवालों की संख्या भारत में कितनी है।

इस पुस्तक के लिखने में हमने १९०१ ईस्वी की मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से, भारत की भाषाओं की जाँच की रिपोर्टों से, नये "इम्पीरियल गज़ेटियर्स" से, और दो-एक और किताबों से मदद ली है। पर इसके लिए हम डाक्टर ग्रियर्सन के सबसे अधिक ऋणी हैं। इस देश की भाषाओं की जाँच का काम जो गवर्नमेंट ने आपको सौंपा था वह बहुत कुछ हो चुका है। इस जाँच से कितनी ही नई-नई बातें मालूम हुई हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य बातों का समावेश हमने इस निबन्ध में कर दिया है।

अब तक बहुत लोगों का ख़याल था कि हिन्दी की जननी संस्कृत है। यह ठीक नहीं। हिन्दी की उत्पत्ति अपभ्रंश भाषाओं से है और अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति प्राकृत से है।

प्राकृत अपने पहले की पुरानी बोलचाल की संस्कृत से निकली है और परिमार्जित संस्कृत भी (जिसे हम आजकल केवल "संस्कृत" कहते हैं) किसी पुरानी बोलचाल की संस्कृत से निकली है। आज तक की जाँच से यही सिद्ध हुआ है कि वर्तमान हिन्दी की उत्पत्ति ठेठ संस्कृत से नहीं।

एक नई बात और जो मालूम हुई है वह यह है कि जो हिन्दी बिहार में बोली जाती है उसका जन्म-सम्बन्ध बँगला से अधिक है, हम लोगों की हिन्दी से कम। बँगला और उड़िया भाषाओं की तरह बिहारी हिन्दी का निकट सम्बन्ध मागध अपभ्रंश से है, पर हमारी पूर्वी हिन्दी का अर्द्धमागध अपभ्रंश से। बिहारी हिन्दी से पश्चिमी हिन्दी का सम्बन्ध तो और भी दूर का है।

जिसे हम लोग उर्दू कहते हैं वह बाग़ोबहार की भूमिका के आधार पर देहली के बाज़ार में उत्पन्न हुई भाषा बतलाई जाती है। पर डाक्टर ग्रियर्सन ने भाषाओं की जाँच से यह निश्चय किया है कि वह पहले भी विद्यमान थी और उसकी सन्तति मेरठ के आसपास अब तक विद्यमान है। देहली के बाज़ार में मुसल्मानों के सम्पर्क से अरबी, फ़ारसी और कुछ तुर्की के शब्दमात्र उसमें आ मिले। बस इतना ही परिवर्तन उस समय उसमें हुआ। तब से मुसल्मान लोग जहाँ-जहाँ इस देश में गये उसी विदेशी-शब्द-मिश्रित भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के संयोग से हिन्दुओं ने भी उसके प्रचार को बढ़ाया। किंबहुना यह कहना चाहिए कि हिन्दुओं ने उसके प्रचार की विशेष वृद्धि की।

भाषाओं की जाँच से इसी तरह बहुतसी नई-नई बातें मालूम हुई हैं। यदि वे सब हिन्दी जाननेवालों के लिए सुलभ कर दी जायँ तो बड़ा उपकार हो। आशा है, एक-आध हिन्दी-प्रेमी इस विषय में एक बड़ीसी पुस्तक लिखकर इस अभाव की पूर्ति कर देंगे।

जुही, कानपुर }
१७ जून १९०७ }

महावीरप्रसाद द्विवेदी

———

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति

पहला अध्याय

पूर्ववर्ती काल

विषयारम्भ

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का पता लगाने और उसका थोड़ा भी इतिहास लिखने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं; क्योंकि इसके लिए पतेवार सामग्री कहीं नहीं मिलती। अधिकतर अनुमान ही के आधार पर इमारत खड़ी करनी पड़ती है, और यह सबका काम नहीं। इस विषय के विवेचन में पाश्चात्य पण्डितों ने बड़ा परिश्रम किया है। उनकी खोज की बदौलत अब इतनी सामग्री इकट्ठी हो गई है कि उसकी सहायता से हिन्दी की उत्पत्ति और विकास आदि का थोड़ा-बहुत पता लग सकता है। हिन्दी की माता कौन है? मातामही कौन है? प्रमातामही कौन है? कौन कब पैदा हुई? कौन कितने दिन तक रही? हिन्दी का कुटुम्ब कितना बड़ा है? उसकी इस समय हालत क्या है? इन सब बातों का पता

लगाना—और फिर ऐतिहासिक पता, ऐसा वैसा नहीं—बहुत कठिन काम है। मैक्समूलर, काल्डवेल, बीम्स और हार्नेली आदि विद्वानों ने इन विषयों पर बहुत कुछ लिखा है और बहुत-सी अज्ञात बातें जानी हैं, पर खोज, विचार और अध्ययन से भाषाशास्त्र-विषयक नित नई बातें मालूम होती जाती हैं। इससे पुराने सिद्धान्तों में परिवर्तन दरकार होता है! कोई-कोई सिद्धान्त तो बिलकुल ही असत्य साबित हो जाते हैं। अतएव भाषाशास्त्र की इमारत हमेशा ही गिरती रहती है और हमेशा ही उसकी मरम्मत हुआ करती है।

आजकल हिन्दी की तरफ़ लोगों का ध्यान पहले की अपेक्षा कुछ अधिक गया है। सारे हिन्दुस्तान में उसका प्रचार करने की चर्चा हो रही है। बंगाली, मदरासी, महाराष्ट्र, गुजराती सब लोग उसकी उपयुक्तता की तारीफ़ कर रहे हैं। ऐसे समय में इस बात के जानने की, हमारी समझ में, बड़ी ज़रूरत है कि हिन्दी किसे कहते हैं? हिन्दुस्तानी किसे कहते हैं? उर्दू किसे कहते हैं? इनकी उत्पत्ति कैसे और कहाँ से हुई और इनकी पूर्ववर्त्ती भाषाओं ने कितने रूपान्तरों के बाद इन्हें पैदा किया?

इन विषयों पर आज तक कितने ही लेख और छोटी-मोटी पुस्तकें निकल चुकी हैं। पर उनमें कही गई बहुतसी बातों के संशोधन की अब ज़रूरत है। इस देश की गवर्नमेंट जो यहाँ की भिन्न-भिन्न भाषाओं और बोलियों की परीक्षा कराकर उनका इतिहास आदि लिखा रही है उससे कितनी

ही नई-नई बातें मालूम हुई हैं। यह काम प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर ग्रियर्सन कर रहे हैं। १९०१ ईसवी में जो मर्दुमशुमारी हुई थी उसकी रिपोर्ट में एक अध्याय इस देश की भाषाओं के विषय में भी है। यह अध्याय इन्हीं डाक्टर ग्रियर्सन साहब का लिखा हुआ है। इसके लिखे और प्रकाशित किये जाने के बाद, भाषाओं की जाँच से सम्बन्ध रखनेवाली डाक्टर साहब ही की लिखी हुई कई किताबें निकली हैं। उनमें जो बातें हिन्दी के विषय में लिखी हैं वे डाक्टर साहब के लिखे हुए मर्दुमशुमारीवाले भाषा-विषयक प्रकरण से मिलती हैं। इससे मालूम होता है कि भाषाओं की जाँच से हिन्दी के विषय में जो बातें मालूम हुई हैं वे सब इस प्रकरण में आ गई हैं। इस निबन्ध के लिखने में डाक्टर ग्रियर्सन की इस पुस्तक से हमें बहुत सहायता मिली है। भाषाओं की जाँच से सम्बन्ध रखनेवाली सब किताबें जब निकल चुकेंगी तब डाक्टर साहब की भूमिका अलग पुस्तकाकार निकलेगी। सम्भव है उसमें कुछ नई बातें देखने को मिलें। पर तब तक ठहरने की हम विशेष ज़रूरत नहीं समझते; क्योंकि इस विषय के सिद्धान्त बड़े ही अस्थिर हैं—बड़े ही परिवर्तनशील हैं। जो सिद्धान्त आज दृढ़ समझा जाता है, कल किसी नई बात के मालूम होने पर, भ्रामक सिद्ध हो जाता है। इससे यदि वर्ष दो वर्ष ठहरने से कुछ नई बातें मालूम भी हो जायँ, तो कौन कह सकता है, आगे चलकर किसी दिन वे भी न भ्रामक सिद्ध हो जायँगी। अतएव, आगे की बातें आगे होती जायँगी। इस समय जो कुछ

सामने है उसी के आधार पर हम इस विषय को थोड़े में लिखते हैं ।

आदिम आर्य्यों का स्थान

हिन्दुस्तान में सब मिलाकर १४७ भाषायें या बोलियाँ बोली जाती हैं । उनमें से हिन्दी वह भाषा है जिसका सम्बन्ध एक ऐसी प्राचीन भाषा से है जिसे हमारे और यूरपवालों के पूर्वज किसी समय बोलते थे । अर्थात् एक समय ऐसा था जब दोनों के पूर्वज एक ही साथ, या पास-पास, रहते थे और एक ही भाषा बोलते थे । पर किस देश या किस प्रान्त में वे पास-पास रहते थे, यह बतलाना सहल नहीं है । इस विषय पर कितने ही विद्वानों ने कितने ही तर्क किये हैं । किसी ने हिन्दूकुश के आसपास बताया, किसी ने काकेशस के आसपास । किसी की राय हुई कि उत्तरी-पश्चिमी यूरप में ये लोग पास-पास रहते थे । किसी ने कहा नहीं, ये आरमीनियाँ में, या आक्सस नदी के किनारे, कहीं रहते थे । अब सबसे पिछला अन्दाज़ विद्वानों का यह है कि हमारे और यूरपवालों के आदि पुरखे दक्षिणी रूस के पहाड़ी प्रदेश में, जहाँ यूरप और एशिया की हद एक दूसरी से मिलती है वहाँ, रहते थे । वहाँ ये लोग पशु-पालन करते थे और चारे का जहाँ सुभीता होता था वहीं जाकर रहते थे । अपनी भेड़ें, बकरियाँ और गायें लिये ये घूमा करते थे । धीरे-धीरे कुछ लोग खेती भी करने लगे । और जब पास-पास रहने से गुज़ारा न हुआ तब उनमें से कुछ पश्चिम की ओर चल दिये, कुछ पूर्व की ओर । जो लोग पश्चिम की ओर गये उनसे

ग्रीक, लैटिन, केल्टिक और ट्यूटानिक भाषा बोलनेवाली जातियों की उत्पत्ति हुई। जो पूर्व को गये उनसे भिन्न-भिन्न भाषायें बोलनेवाली जातियाँ उत्पन्न हुईं। उनमें से एक का नाम आर्य्य हुआ।

आर्य्य लोगों ने अपना आदिम स्थान कब छोड़ा, पता नहीं चलता। लेकिन छोड़ा ज़रूर, यह निःसन्देह है। बहुत करके उन्होंने कास्पियन सागर के उत्तर से प्रयाण किया और पूर्व की ओर बढ़ते गये। जब वे आकसस और जकज़ारटिस नदियों के किनारे आये, तब वहाँ ठहर गये। वह देश उनको बहुत पसन्द आया। सम्भव है, वे खीवा के उस प्रान्त में ठहरे हों, जो औरों की अपेक्षा अधिक सरसब्ज़ है। एशिया में खीवा को ही आर्य्यों का सबसे पुराना निवास-स्थान मानना चाहिए। वहाँ कुछ समय तक रहकर आर्य्य लोग पूर्वोक्त नदियों के किनारे-किनारे खोक़न्द और बदख़्शाँ तक आये। वहाँ इनके दो भाग हो गये। एक पश्चिम की तरफ़ मर्व और पूर्वी फ़ारस को गया, दूसरा हिन्दूकुश को लाँघकर काबुल की तराई में होता हुआ हिन्दुस्तान पहुँचा। जब तक इनके दो भाग नहीं हुए थे, ये लोग एक ही भाषा बोलते थे। पर दो भाग होने, अर्थात् एक के फ़ारिस और दूसरे के हिन्दुस्तान आने, से भाषा में भेद हो गया। फ़ारिसवालों की भाषा ईरानी हो गई और हिन्दुस्तानवालों की विशुद्ध "आर्य्य"। १९०१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार ईरानी और आर्य्य भाषा बोलनेवालों की संख्या इस प्रकार थी—

ईरानी	...	१, ३९७, ७८६
आर्य्य	...	२१९, ७८०, ६५०
कुल	...	२२१, १७८, ४३६

इस लेख में उन ईरानियों की गिनती है जो हिन्दुस्तान की हद में रहते हैं। फ़ारिस के ईरानियों से मतलब नहीं है। हिन्दुस्तान की कुल आबादी २९४,३६१,०५६ है। उसमें से ईरानी और आर्य्यों की भाषा बोलनेवालों की संख्या मालूम हो गई। बाक़ी जो लोग बचे वे यूरप और आफ़्रीक़ा आदि की, तथा कितनी ही अनार्य्य, भाषायें बोलते हैं। ईरानी और आर्य्य भाषाओं से यह मतलब नहीं कि इस नाम की कोई पृथक् भाषायें हैं। नहीं, इनसे सिर्फ़ इतनाही मतलब है कि जो भाषाएँ २२ करोड़ आदमी इस समय हिन्दुस्तान में बोलते हैं वे पुरानी आर्य्य और ईरानी भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं। ये दो शाखायें हैं। इन्हीं से और कितनी ही भाषाओं की उत्पत्ति हुई है।

ईरानी शाखा

ख़ोक़न्द और बदख़्शाँ तक सब आर्य्य साथ-साथ रहे। वहाँ से कुछ आर्य्य हिन्दुस्तान की तरफ़ आये और कुछ फ़ारिस की तरफ़ गये। इन फ़ारिस की तरफ़ जानेवालों में से कुछ लोग काश्मीर के उत्तर, पामीर, पहुँचे। ये लोग अब तक ईरानी भाषायें बोलते हैं। जो लोग फ़ारिस की तरफ़ गये थे वे धीरे-धीरे मर्व, फ़ारिस, अफ़ग़ानिस्तान और बिलोचिस्तान में फैल गये। वहाँ इनकी भाषा के दो भेद हो गये। परजिक और मीडिक।

परजिक भाषा

परजिक भाषा का दूसरा नाम पुरानी फ़ारसी है। ईसा के पाँच-छः सौ वर्ष पहले ही से इसका प्रचार फ़ारिस में हो गया था। डारियस "प्रथम" के समय के शिलालेख सब इसी भाषा में हैं। बहुत काल तक इसका प्रचार फ़ारिस में रहा। यह फ़ारिस के सब सूबों में बोली और लिखी जाती थी। ईसा के कोई ३०० वर्ष बाद इसका रूपान्तर पहलवी भाषा में हुआ। यह भाषा ईसा के ७०० वर्ष बाद तक रही। आज-कल फ़ारिस में जो फ़ारसी बोली जाती है, पहलवी से उसका वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध भारत की प्राकृत भाषाओं का यहाँ की हिन्दी, बंगला, मराठी आदि वर्त्तमान भाषाओं से है। पहलवी के बाद फ़ारिस की भाषा को वह रूप मिला जो कोई हज़ार-ग्यारह सौ वर्ष से वहाँ अब तक प्रचलित है। यह वहाँ की वर्त्तमान फ़ारसी है। मुसल्मानी राज्य में इस भाषा का प्रचार हिन्दुस्तान में भी बहुत समय तक रहा। हिन्दू और मुसल्मान दोनों इसे सीखते थे और बहुधा बोलते भी थे। कुछ लोगों की जन्म-भाषा फ़ारसी ही थी। हिन्दुस्तान में अनेक ग्रन्थ भी इस भाषा में लिखे गये। विद्वान् मुसल्मानों में अब भी फ़ारसी का बड़ा आदर है। पर रंगून, देहली, लखनऊ आदि में पुराने शाही ख़ानदान के जो मुसल्मान बाक़ी हैं वही कभी-कभी फ़ारसी बोलते हैं। या अफ़ग़ानिस्तान और फ़ारिस से आकर जो लोग यहाँ बस गये हैं, अथवा जो लोग इन देशों से व्यापार के लिए यहाँ आते हैं—विशेष करके घोड़ों के व्यापारी—

वे फ़ारसी बोलते हैं। फ़ारसी बोली और लोगों के मुँह से अब बहुत कम सुनने में आती है। यों तो फ़ारसी जाननेवाले उसे बोल लेते हैं, पर फ़ारसी उनकी बोली नहीं। इससे वे विशुद्ध फ़ारसी नहीं बोल सकते।

मुसल्मानी राज्य में जो लोग फ़ारिस और अफ़ग़ानिस्तान आदि देशों से आकर इस देश में बस गये थे और जिनकी सन्तति अबतक यहाँ वर्त्तमान है—वर्त्तमान है क्यों, बढ़ती जाती है—उनके पूर्वज ईरानियों के वंशज थे। अर्थात् वे लोग जो भाषा बोलते थे वह पुरानी ईरानी भाषा से उत्पन्न हुई थी। आर्य्यों ने अपनी जिस शाखा का साथ बदख़शाँ के आस-पास कहीं छोड़ा था, उसी शाखा के वंशधर, सैकड़ों वर्ष बाद, हिन्दुस्तान में आकर फिर आर्य्यों के वंशजों के साथ रहने लगे। इस तरह का संयोग एक बार और भी बहुत पहले हो चुका था। डाकृर ग्रियर्सन लिखते हैं कि सिकन्दर के समय में, और उसके बाद भी, सूर्य्योपासक पुराने ईरानियों के वंशज, धर्म्मोपदेश करने के लिए, इस देश में आये थे। इनमें से बहुत से शक (सीथियन। Scythians) लोग भी थे। इस बात को हुए कोई दो हज़ार वर्ष हुए। ये लोग इस देश में आकर धीरे-धीरे यहाँ के ब्राह्मणों में मिल गये और अब तक शाकद्वीपीय ब्राह्मण कहलाते हैं।

जब मुसल्मानों की प्रभुता फ़ारिस में बढ़ी, और वहाँ के अग्निपूजक ईरानियों पर अत्याचार होने लगे तब जरथुस्त्र के उपासक कुछ लोग इस देश में भग आये और हिन्दुस्तान के

पश्चिम, गुजरात में, रहने लगे। आज-कल के पारसी उन्हीं की सन्तति हैं। पर यद्यपि भारत के शाकद्वीपीय ब्राह्मण और पारसी ईरानियों के वंशज हैं तथापि न तो वे ईरान ही की कोई भाषा बोलते हैं और न उनकी कोई शाखा ही। इनको इस देश में रहते बहुत दिन हो गये हैं। इसलिए इनकी बोली यहाँ की बोली हो गई है।

मीडिक भाषा

मीडिक भाषा-समूह में बहुत सी भाषायें और बोलियाँ शामिल हैं। ईरान के कितने ही हिस्सों में यह भाषा बोली जाती थी। ये सब हिस्से, सूबे या प्रान्त पास ही पास न थे। कोई-कोई एक दूसरे से बहुत दूर थे। मीडिया पुराने ज़माने में फ़ारिस का वह हिस्सा कहलाता था जिसे इस समय पश्चिमी फ़ारिस कहते हैं। मीडिया ही की भाषा का नाम मीडिक है। पारसी लोगों का प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ अवस्ता इसी पुरानी मीडिक भाषा में है। बहुत लोग अब तक यह समझते थे कि अवस्ता ग्रन्थ ज़ेन्द भाषा में है। उसका नाम ज़ेन्द-अवस्ता सुनकर यही भ्रम होता है। परन्तु यह भूल है। इस भूल के कारण एक योरोपीय पण्डित महोदय हैं। उन्होंने भ्रम से अवस्ता की रचना ज़ेन्द भाषा में बतला दी। और लोगों ने बिना निश्चय किये ही इस मत को मान लिया। पर अब यह बात अच्छी तरह साबित कर दी गई है कि अवस्ता की भाषा ज़ेन्द नहीं। भाषा उसकी पुरानी मीडिक है। अवस्ता का अनुवाद और उस पर भाष्य ईरान की पुरानी भाषा पहलवी में है। इस

अनुवाद और भाष्य का नाम ज़ेन्द है, भाषा का नहीं। वेदों की तरह अवस्ता के भी सब अंश एक ही साथ निर्म्माण नहीं हुए। कोई पहले हुआ है, कोई पीछे। उसका सबसे पुराना भाग ईसा के कोई ६०० वर्ष पहले का मालूम होता है। जैसे परजिक भाषा रूपान्तर होते-होते, पहलवी भाषा हो गई, वैसे मीडिक भाषा को कालान्तर में कौन सा रूप प्राप्त हुआ, इसका पता नहीं चलता। परन्तु वर्त्तमान काल की कई भाषाओं में उसके चिह्न विद्यमान हैं। अर्थात् इस समय भी कितनी ही भाषायें और बोलियाँ विद्यमान हैं जो पुरानी मीडिक, या उसके रूपान्तर, से उत्पन्न हुई हैं। इसमें से गालचह, पश्तो, आरमुरी और बलोक मुख्य हैं। इनके सिवा कुर्दिश, मकरानी, मुञ्जानी आदि कितनी ही बोलियाँ भी इसी पुरानी मीडिक भाषा से सम्बन्ध रखती हैं। औरों की अपेक्षा पश्तो भाषा का साहित्य कुछ विशेष अच्छी दशा में है। उसमें बहुत सी उपयोगी और उत्तम पुस्तकें हैं। पर पश्तो बड़ी कर्णकटु भाषा है। कहावत मशहूर है कि अरबी विज्ञान है; तुर्की सुघरता है; फ़ारसी शक्कर है; हिन्दुस्तानी नमक है; और पश्तो गधे का रेंकना है।

पुरानी संस्कृत

आदिम आर्यों की जो शाखा ईरान की तरफ़ गई उसका और उसकी भाषाओं का संक्षिप्त वर्णन हो चुका। अब उन आर्यों का हाल सुनिए जो ख़ोक़न्द और बदख़शाँ का पहाड़ी देश छोड़कर दक्षिण की तरफ़ हिन्दुस्तान में आये। आदिम आर्य्यों

की क्यों दो शाखायें हो गईं ? क्यों एक शाखा एक तरफ़ गई, दूसरी, दूसरी तरफ़—इसका ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। सम्भव है, धार्मिक मत-भेद के कारण यह बात हुई हो। या ईरानी आर्य्यों की राज्यप्रणाली हमारे पुराने आर्य्यों को पसन्द न आई हो। क्योंकि ईरानी लोग बहुत पुराने ज़माने से ही अपने में से एक आदमी को राजा बनाकर उसके अधीन रहने लगे थे। पर हिन्दुस्तान की तरफ़ आनेवाले आर्य्यों को यह बात पसन्द न थी। अथवा आर्य्यों के विभक्त होने का इन दो में से एक भी कारण न हो। सम्भव है वे यों ही दक्षिण की तरफ़ आने को बढ़ते गये हों। क्योंकि जो जातियाँ अपने पशु-समूह को साथ लिये घूमा करती हैं वे स्थिर तो रहती नहीं। हमेशा ही स्थान-परिवर्तन किया करती हैं। अतएव सम्भव है आर्य्य लोग अपनी तत्कालीन स्थिति के अनुसार हिन्दुस्तान की तरफ़ यों ही चले आये हों। चाहे जिस कारण से हो, आये वे लोग इस तरफ़ ज़रूर और आकर क़न्धार के आस-पास रहने लगे। वहाँ से वे काबुल की तराई में होते हुए पंजाब पहुँचे। पंजाब में आकर उनकी एक जाति बनी। बदख़्शाँ के पास वे लोग जो भाषा बोलते थे उसमें और उनकी तब की भाषा में अन्तर हो गया। पंजाब में आ कर बसने तक सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। फिर भला क्यों न अन्तर हो जाय ? धीरे-धीरे उनकी भाषा को वह रूप प्राप्त हुआ जिसे हम पुरानी संस्कृत कह सकते हैं। यह भाषा उस समय पंजाब और पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान में बोली जाती थी।

आसुरी भाषा

आर्यों के पंजाब आने तक उनकी, और ईरानी शाखा के आर्यों की, भाषा परस्पर बहुत कुछ मिलती थी। पुरानी संस्कृत और मीडिक भाषा में परस्पर इतना सादृश्य है जिसे देख कर आश्चर्य होता है। जो लोग मीडिक भाषा बोलते थे उन्हीं का नाम असुर (अहुर) है। जब वे असुर हुए तब उनकी भाषा ज़रूर ही आसुरी हुई। वेदों और उनके बाद के संस्कृत-साहित्य को देखने से मालूम होता है कि देवोपासक आर्य्य सुरापान करते थे और असुरोपासक सुरापान के विरोधी थे। प्रमाण में वाल्मीकीय रामायण के बालकांड का ४५ वाँ सर्ग देखिए। जान पड़ता है, सुरापान न करने ही से ईरान की तरफ़ जानेवाले आर्यों से हमारे पूर्वज आर्य्य घृणा करने लगे थे। उनसे जुदा होने का भी शायद यही मुख्य कारण हो। पारसियों की अवस्ता में असुर उपास्य माने गये और सुर अर्थात् देवता घृणास्पद।

ऋग्वेद के बहुत पुराने अंशों में असुर और सुर (देव) दोनों पूज्य माने गये हैं। पर बाद के अंशों में कहीं-कहीं असुरों से घृणा की गई है। वेदों के उत्तर काल के साहित्य में तो असुर सर्वत्र ही हेय और निन्द्य माने गये हैं।

"असु" शब्द का अर्थ है "प्राण"। जो सप्राण या बलवान हो वही असुर है। बाबू महेशचन्द्र घोष "प्रवासी" में लिखते हैं कि 'असुर' शब्द ऋग्वेद में कोई १०० दफ़े आया है। उस-में से केवल ११ स्थल ऐसे हैं जहाँ इस शब्द का अर्थ देवशत्रु

है। अन्यत्र सब कहीं सविता, पूषा, मित्र, वरुण, अग्नि, सोम और कहीं-कहीं श्रेष्ठ मनुष्यों के लिए भी "असुर" शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के पहले मंडल का ३५ वाँ, दूसरे का २७ वाँ, सातवें का दूसरा और दसवें का १२४ वाँ सूक्त देखिए। इससे स्पष्ट है कि बहुत पुराने ज़माने में असुर शब्द का अर्थ बुरा नहीं था। और चूँकि अवस्ता में असुर (अहुर) की उपासना है, और वह पारसियों का पूज्य ग्रन्थ है, अतएव हमारे पारसी-बन्धु असुरोपासक हुए। याद रहे ये लोग भी उन्हीं आर्य्यों के वंशज हैं जिनके वंशज पंजाब में आकर बसे थे और जिनको हम लोग अपने पूज्य पूर्वज समझते हैं।

वैदिक देवताओं और याज्ञिक शब्दों की तुलना अवस्ता से करने पर यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि वेद और अवस्ता की भाषा बोलनेवालों के पूर्वज किसी समय एक ही भाषा बोलते थे। प्रमाण:—

वैदिक शब्द	अवस्ता के शब्द
मित्र	मिथ्र
अर्य्यमन्	ऐर्य्यमन्
भग	बघ
वायु	वयु
दानव	दानु
गाया	गाथा
मन्त्र	मन्थ्र

होता	जओता
आहुति	आजुइति

संस्कृत और अवस्ता की भाषा में इतना सादृश्य है कि दोनों का मिलान करने से इस बात में ज़रा भी सन्देह की जगह नहीं रह जाती कि किसी समय ये दोनों भाषायें एक ही थीं। शब्द, धातु, कृत, तद्धित, अव्यय इत्यादि सभी विषयों में विलक्षण सादृश्य है।

उदाहरण

संस्कृत	अवस्ता की भाषा
नरं	नरेम्
रथं	रथेम्
देव	दएव
गो	गओ
कर्ण	करेन
गव्य	गाव्य
शत	सत
पशु	पसु
दात्र	दाथ
पुत्रात्	पुथ्रात्
दातरि	दातरि
नः	नो
मे	मे
मम	मम

त्वम्	त्वम्
सा	हा
अस्ति	अस्ति
असि	अहि
अस्मि	अहमि
इह	इध
कुत्र	कुथ्र

कितने ही वैदिक छन्द तक अवस्ता में तद्वत् पाये जाते हैं। इन उदाहरणों से साफ़ ज़ाहिर है कि वैदिक आर्य्यों के पूर्वज किसी समय वही भाषा बोलते थे जो कि ईरानी आर्य्यों के पूर्वज बोलते थे। अन्यथा दोनों की भाषाओं में इतना सादृश्य कभी न होता। भाषा-सादृश्य ही नहीं, किन्तु अवस्ता को ध्यानपूर्वक देखने से और भी कितनी ही बातों में विलक्षण सादृश्य देख पड़ता है। अतएव इस समय चाहे कोई जितना नाक-भौंह सिकोड़े, अवस्ता और वेद पुकारकर कह रहे हैं कि ईरानी और भारतवर्षीय आर्य्यों के पूर्वज किसी समय एक ही थे।

विशुद्ध संस्कृत का उत्पत्ति-स्थान

इस विवेचन से मालूम हुआ कि आर्य्यों के पंजाब में आकर बसने तक, अर्थात् उनकी भाषा को "पुरानी संस्कृत" का रूप प्राप्त होने तक, उनकी और ईरानवालों की मीडिक भाषा में, परस्पर बहुत कुछ समता थी। पुरानी संस्कृत कोई विशेष व्यापक भाषा न थी। उसके कितने ही भेद थे। उसकी

कई शाखायें थीं। भारतवर्ष की वर्त्तमान आर्य्य-भाषायें उन्हीं में से, एक न एक से, निकली हैं। विशुद्ध संस्कृत भी इन्हीं भाषाओं के किसी न किसी रूप से परिष्कृत हुई है।

असंस्कृत आर्य्य-भाषायें

चित्राल और गिलगिट आदि में कुछ ऐसी भाषायें बोली जाती हैं जो आर्य्यों ही की भाषाओं से उत्पन्न हुई हैं। पर वे संस्कृत से सम्बन्ध नहीं रखतीं। संस्कृत से उनका कोई सम्पर्क नहीं मालूम होता। जो लोग इन भाषाओं को बोलते हैं वे पञ्जाब में आकर बसे हुए आर्य्यों की सन्तति नहीं मालूम होते। आर्य्य लोग, दक्षिण की तरफ़ पञ्जाब में आकर, फिर उत्तर की ओर काफ़िरिस्तान, गिलगिट, चित्राल और काश्मीर की उत्तरी तराइयों में नहीं गये। बहुत सम्भव है कि आर्य्यों का जो समूह अपने आदिम स्थान से चलकर दक्षिण की तरफ़ आया था, उसका कुछ अंश अलग होकर, आक्सस नदी के किनारे-किनारे पामीर पहुँचा हो और वहाँ से गिलगिट और चित्राल आदि में बस गया हो। खोवार, बशगली, कलाशा, पशाई, लग़मानी आदि भाषायें या बोलियाँ जो काश्मीर के उत्तरी प्रदेशों में बोली जाती हैं, उनका संस्कृत से कुछ भी लगाव नहीं है। इनमें कुछ साहित्य भी नहीं है। और न इनके लिखने की कोई लिपि ही अलग है। जहाँ तक खोज की गई है उससे यही मालूम होता है कि ये भाषायें संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुईं। यहाँ संस्कृत से मतलब उस पुरानी संस्कृत से है जिसे पञ्जाब में रहनेवाले आर्य्य बोलते थे।

लग़मानी आदि असंस्कृत आर्य्य-भाषा बोलनेवालों की संख्या इस देश में बहुत ही कम है। १९०१ ईसवी में वह सिर्फ़ ५४, ४२५ थी।

इस तरह आर्य्य-भाषाओं के दो भेद हुए। एक असंस्कृत आर्य्य-भाषायें; दूसरी संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषायें। ऊपर एक जगह आर्य्य-भाषायें बोलनेवालों की संख्या जो दी गई है उसमें असंस्कृत आर्य-भाषायें बोलनेवालों की संख्या शामिल है। उसे निकाल डालने से संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषायें बोलनेवालों की संख्या २१९,७२६,२२५ रह जाती है।

कुछ दिन हुए लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी ने एक पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें उत्तर-पश्चिमी भारत की पिशाच-भाषाओं का वर्णन है। उसमें लिखा है कि असंस्कृत आर्य्य-भाषायें पुरानी पैशाची प्राकृत से निकली हैं। यहाँ उन्हीं पैशाची प्राकृतों से मतलब है जिनका वर्णन वररुचि ने किया है।

———

दूसरा अध्याय

परवर्त्ती काल

पूर्वागत और नवागत आर्य्य

जो आर्य्य काबुल की पार्वत्य भूमि से पंजाब में आये वे सब एक दम ही नहीं आ गये। धीरे-धीरे आये। सैकड़ों वर्ष तक वे आते गये। इसका पता वेदों में मिलता है। वेदों में बहुत सी बातें ऐसी हैं जो इस अनुमान को पुष्ट करती हैं। किसी समय कंधार में आर्य्यसमूह का राजा दिवोदास था। बाद में सुदास नाम का राजा सिन्धु नदी के किनारे पंजाब में हुआ। इस पिछले राजा के समय के आर्य्यों ने दिवोदास के बल, वीर्य्य और पराक्रम के गीत गाये हैं। इससे साबित होता है कि सुदास के समय दिवोदास को हुए कई पीढ़ियाँ हो चुकी थीं। आर्य्यों के पंजाब में अच्छी तरह बस जाने पर उनके कई फ़िरक़े—कई वर्ग—हो गये। सम्भव है इन फ़िरक़ों की एक दूसरे से न बनती रही हो। इनकी बोली में तो फ़रक़ ज़रूर हो हो गया था। उस समय आर्य्यों का नया समूह पश्चिम से आता था और पहले आये हुए आर्य्यों को आगे हटाकर उनकी जगह ख़ुद रहने लगता था।

उस समय के आर्य्य जो भाषा बोलते थे उसके नमूने वेदों में विद्यमान हैं। वेदों का मन्त्र-भाग एक ही समय में नहीं

बना। कुछ कभी बना है, कुछ कभी। उसकी रचना के समय में बड़ा अन्तर है। फिर एक ही जगह उसकी रचना नहीं हुई। कुछ की रचना क़न्धार के पास हुई है, कुछ की पंजाब में, और कुछ की यमुना के किनारे। जिन आर्य्य ऋषियों ने वेदों का विभाग करके उनका सम्पादन किया, और उनको वह रूप दिया जिसमें उन्हें हम इस समय देखते हैं, उन्होंने रचना-काल और रचना-स्थान का विचार न करके जिस भाग को जहाँ उचित समझा रख दिया। इसी से रचना-काल के अनुसार भाषा की भिन्नता का पता सहज में नहीं लगता।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सब आर्य्य एक ही साथ पंजाब में नहीं आये। धीरे-धीरे आये। डाक्टर हार्नली आदि विद्वानों का मत है कि हिन्दुस्तान पर आर्य्यों की मुख्य-मुख्य दो चढ़ाइयाँ हुई। जो आर्य्य, इस तरह, दो दफ़ा करके पंजाब में आये उनकी भाषाओं का मूल यद्यपि एक ही था, तथापि उनमें अन्तर ज़रूर था। अर्थात् दोनों यद्यपि एक ही मूल-भाषा की शाखायें थीं, तथापि उनके बोलनेवालों के अलग-अलग हो जाने से, उनमें भेद हो गया था। चाहे आर्य्यों का दो दफ़े में पंजाब आना माना जाय, चाहे थोड़ा थोड़ा करके कई दफ़े में, बात एक ही है। वह यह है कि सब आर्य्य एक दम नहीं आये। कुछ पहले आये, कुछ पीछे। और पहले और पीछे-वालों की भाषाओं में फ़रक़ था। डाक्टर ग्रियर्सन का अनुमान है कि आर्य्यों का पिछला समूह शायद कोहिस्तान होकर पंजाब आया। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह पिछला समूह उन्हीं

आर्य्यों का वंशज होगा जिनके वंशज इस समय गिलगिट और चित्राल में रहते हैं। और जो असंस्कृत आर्य्य-भाषायें बोलते हैं। सम्भव है ये सब आर्य्य आक्सस अर्थात् अमू नदी के किनारे-किनारे साथ ही रवाना हुए हों। उनका अगला भाग पंजाब पहुँच गया हो और पिछला गिलगिट और चित्राल ही में रह गया हो। जब ये लोग पंजाब पहुँचे तब पंजाब को इन्होंने पश्चिम से आये हुए आर्य्यों से आबाद पाया। ये पूर्ववर्ती आर्य्य जो भाषा बोलते थे वह परवर्ती आर्य्यों की भाषा से कुछ भिन्न थी। परवर्ती आर्य्य पूर्वी पंजाब की तरफ़ बढ़े और वहाँ से पूर्वागत आर्य्यों को हराकर आप वहाँ बस गये। पूर्वागत आर्य्य भी उनसे कुछ दूर पर उनके आस-पास बने रहे। पूर्वागत आर्य्यों की जो भाषायें या बोलियाँ थीं, उनके साथ नवागत आर्य्यों की बोली को भी स्थान मिला। धीरे-धीरे सब भाषायें गड्ड-बड्ड हो गईं। कुछ समय बाद उन सबके योग से, या उनमें से कुछ के योग से पुरानी संस्कृत की उत्पत्ति हुई।

मध्य देश

परवर्ती आर्य्यों के फ़िरक़े, चाहे जहाँ से और चाहे जिस रास्ते आये हों, धीरे-धीरे वृद्धि उनकी ज़रूर हुई। जैसे-जैसे उनकी संख्या बढ़ती गई और वे फैलते गये वैसे ही वैसे पूर्ववर्ती आर्य्यों को वे सब तरफ़ दूर हटाते गये। संस्कृत-साहित्य में एक प्रान्त का नाम है "मध्य देश"। पुराने ग्रंथों में इसका बहुत दफ़े ज़िक्र आया है। वही आर्य्यों की विशुद्ध भूमि बतलाई गई है। वही उनका आदि-स्थान माना गया है। उसकी

चतुःसीमायें ये लिखी हैं। उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व में प्रयाग, पश्चिम में सरहिन्द। इस मध्य देश के एक छोर से दूसरे छोर तक सरस्वती नदी की पवित्र धारा बहती थी। वैदिक समय में उसी के किनारे नवागत आर्य्यों का अड्डा था।

संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषाओं की दो शाखायें

संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भाषायें इस समय हिन्दुस्तान में बोली जाती हैं उनकी दो शाखायें हैं। वे दो भागों में विभक्त हैं। एक शाखा तो ठीक उस प्रान्त में बोली जाती है जिसका पुराना नाम मध्य-देश था। दूसरी शाखा इस मध्य-देश के तीन तरफ़ बोली जाती है। उससे निकली हुई भाषाओं का आरम्भ काश्मीर में होता है। वहाँ से पश्चिमी पंजाब, सिन्ध और महाराष्ट्र देश में होती हुई वे मध्य भारत, उड़ीसा, बिहार, बंगाल और आसाम तक पहुँची हैं। गुजरात को हमने छोड़ दिया है, क्योंकि वहाँ की भाषा मध्य-देशीय शाखा से सम्बन्ध रखती है। इसका कारण यह है कि पुराने ज़माने में गुजरात प्रान्त मथुरा से जीता गया था। मथुरा के नवागत आर्य्यों ने गुजरात के पूर्वागत आर्य्यों को अपने अधीन कर लिया था। मथुरा मध्य-देश में था। और बहुत से नवागत आर्य्य गुजरात में जाकर रहने लगे थे। इसी से मध्य-देश की भाषा वहाँ प्रधान भाषा हो गई। हिन्दुस्तान भर में एक यही प्रान्त ऐसा है जिसके निवासियों ने अपने विजयी नवागत आर्य्यों की भाषा स्वीकार कर ली है।

अन्तःशाखा और बहिःशाखा

परवर्ती नवागत आर्य्य जो मध्यदेश में बस गये थे उनकी भाषा का नाम सुभीते के लिए अन्तःशाखा रखते हैं। और जो पूर्ववर्ती आर्य्य नवागतों के द्वारा बाहर निकाल दिये गये थे अर्थात् दूर-दूर प्रान्तों में जाकर जो रहने लगे थे, उनकी भाषा का नाम बहिःशाखा रखते हैं।

इन दोनों शाखाओं के उच्चारण में फ़र्क़ है। प्रत्येक में कुछ न कुछ विशेषता है। जिन वर्णों का उच्चारण सिसकार के साथ करना पड़ता है उनको अन्तःशाखावाले बहुत कड़ी आवाज़ से बोलते हैं। यहाँ तक कि वह दन्त्य 'स' हो जाता है। पर बहिःशाखावाले वैसा नहीं करते। इसी से मध्य-देश-वालों के 'कोस' शब्द को सिन्धवालों ने 'कोहु' कर दिया है। पूर्व की तरफ़ बंगाल में यह 'स' 'श' हो गया है। महाराष्ट्र में भी उसका कड़ापन बहुत कुछ कम हो गया है। आसाम में 'स' की आवाज़ गिरते-गिरते कुछ-कुछ 'च' की सी हो गई है। काश्मीर में तो उसकी कड़ी आवाज़ बिलकुल ही जाती रही है। वहाँ अन्तःशाखा का 'स' बिगड़ कर 'ह' हो गया है।

संज्ञाओं में भी अन्तर है। अन्तःशाखा में जो भाषायें शामिल हैं उनकी मूल-विभक्तियाँ प्रायः गिर गई हैं। धीरे-धीरे उनका लोप हो गया है। और उनकी जगह पर और ही छोटे-छोटे शब्द मूल-शब्दों के साथ जुड़ गये हैं। उन्हीं से विभक्तियों का मतलब निकल जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी की 'का' 'को' 'से' आदि विभक्तियाँ देखिए। ये जिस शब्द

के अन्त में आती हैं उस शब्द का उन्हें मूल अंश न समझना चाहिए। ये पृथक् शब्द हैं और विभक्ति-गत अपेक्षित अर्थ देने के लिए जोड़े जाते हैं। अतएव अन्तःशाखा की भाषाओं को व्यवच्छेदक भाषायें कहना चाहिए। बहिःशाखा की भाषायें जिस समय पुरानी संस्कृत के रूप में थीं, संयोगात्मक थीं। 'का' 'को' 'सो' आदि से जो अर्थ निकलता है उसके सूचक शब्द उनमें अलग न जोड़े जाते थे। इसके बाद उन्हें व्यवच्छेदक रूप प्राप्त हुआ। सिन्धी और काश्मीरी भाषायें अब तक कुछ-कुछ इसी रूप में हैं। कुछ काल बाद फिर ये भाषायें संयोगात्मक हो गईं और व्यवच्छेदक अवस्था में जो विभक्तियाँ अलग हो गई थीं वे इनके मूलरूप में मिल गईं। बँगला में षष्ठी विभक्ति का चिह्न 'एर' इसका अच्छा उदाहरण है।

क्रियाओं में भी भेद है। बहिःशाखा की भाषायें पुरानी संस्कृत की किसी ऐसी एक या अधिक भाषाओं से निकली हैं जिनकी भूतकालिक (यथार्थ में भाववाच्य) क्रियाओं से सर्वनामात्मक कर्ता के अर्थ का भी बोध होता था—अर्थात् क्रिया और कर्ता एक ही में मिले होते थे। यह विशेषता बहिःशाखा की भाषाओं में भी पाई जाती है। उदाहरण के लिए बँगला का "मारिलाम" देखिए। इसका अर्थ है "मैंने मारा"। पर अन्तःशाखा की भाषायें किसी ऐसी एक या अधिक भाषाओं से निकली हैं जिसमें इस तरह के क्रियापद नहीं प्रयुक्त होते थे। उदाहरण के लिए हिन्दी का "मारा" लीजिए।

इससे यह नहीं ज्ञात होता कि किसने मारा? "मैंने मारा," "तुमने मारा," "उसने मारा," "उन्होंने मारा" जो चाहे समझ लीजिए। "मारा" का रूप सबके लिए एक ही रहेगा। इससे साबित है कि ये बाहरी और भीतरी शाखायें जुदी-जुदी भाषाओं से निकली हैं। इनका उत्पत्ति-स्थान एक नहीं है।

विस्तार और सीमायें

भीतरी शाखा जिन प्रान्तों में बोली जाती है उनकी उत्तरी सीमा हिमालय, पश्चिमी झेलम और पूर्वी वह देशांश रेखा है जो बनारस से होकर जाती है। पर पूर्वी और पश्चिमी सीमायें निश्चित नहीं। उनके विषय में विवाद है। वहाँ भीतरी और बाहरी शाखायें परस्पर मिली हुई हैं और एक दूसरी की सीमा के भीतर भी कुछ दूर तक बोली जाती हैं। यदि इन दोनों सीमाओं का आकुञ्चन कर दिया जाय, अर्थात् वे हटाकर वहाँ कर दी जायँ जहाँ भीतरी शाखा में बाहरी का ज़रा भी मेल नहीं है, तो उसकी पूर्वी सीमा संयुक्त प्रान्त में प्रयाग के याम्योत्तर और पश्चिमी, पटियाले में सरहिन्द के याम्योत्तर कहीं हो जाय। यहाँ इस शाखा की भाषायें सर्वथा विशुद्ध हैं। उनमें बाहरी शाखा की भाषाओं का कुछ भी संश्रव नहीं है। सरहिन्द और झेलम के बीच की भाषा पञ्जाबी है। यह भाषा भीतरी शाखा से ही सम्बन्ध रखती है, पर इसमें बहुत शब्द ऐसे भी हैं जो इस शाखा से नहीं निकले। इस तरह के शब्दों की संख्या जैसे-जैसे पश्चिम को बढ़ते जाइए, अधिक होती जाती है। मालूम होता है कि इस प्रान्त में पहले बाहरी शाखा के

आर्य्य रहते थे। धीरे-धीरे भीतर शाखा के आर्यों का प्रभुत्व वहाँ बढ़ा और उन्हीं की भाषा वहाँ की प्रधान भाषा हो गई। प्रयाग और बनारस के बीच, अर्थात् अवध, बघेलखण्ड और छत्तीसगढ़, की भाषा पूर्वी हिन्दी है। इस भाषा में भीतरी और बाहरी दोनों शाखाओं के शब्द हैं। यह दोनों के योग से बनी है अतएव इसे हम मध्यवर्ती शाखा कहते हैं। भीतरी शाखा की दक्षिणी सीमा नर्म्मदा का दक्षिणी तट है। इसमें किसी सन्देह, विवाद या विसंवाद के लिए जगह नहीं। यह सीमा निर्विवाद है। पश्चिम में यह शाखा राजस्थानी भाषा का रूप प्राप्त करके सिन्धी में और पंजाबी का रूप प्राप्त करके लहँडा में मिल जाती है। लहँडा वह बोली है जो पंजाब के पश्चिम मुलतान और भावलपुर आदि में बोली जाती है। गुजरात में भी इस भीतरी शाखा का प्राधान्य है। वहाँ उसने पूर्व-प्रचलित बाहरी शाखा की भाषा के अधिकार को छीन लिया है।

जिन भाषाओं का ज़िक्र ऊपर किया गया उन्हें छोड़ कर शेष जितनी संस्कृतोत्पन्न आर्य-भाषायें हैं सब बाहरी शाखा के अन्तर्गत हैं।

संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषाओं के भेद

संस्कृत से (याद रखिए, पुरानी संस्कृत से मतलब है) उत्पन्न हुई जितनी आर्य्य-भाषायें हैं वे नीचे लिखे अनुसार शाखाओं, उपशाखाओं और भाषाओं में विभाजित की जा सकती हैं:—

(१) बाहरी शाखा। इसकी तीन उपशाखायें हैं—उत्तर-पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी।

(२) मध्यवर्ती शाखा।

(३) भीतरी शाखा। इसकी दो उपशाखायें हैं—पश्चिमी और उत्तरी।

अब हम नीचे एक लेखा देते हैं जिससे यह मालूम हो जायगा कि प्रत्येक उपशाखा में कौन-कौन भाषायें हैं, और १६०१ ईसवी की मर्दुमशुमारी के अनुसार, प्रत्येक उपशाखा और भाषा के बोलनेवालों की संख्या कितनी है।

बाहरी शाखा

(क) उत्तर-पश्चिमी उपशाखा		७,३५२,३०५
१ काश्मीरी	१,००७,६५७	
२ कोहिस्तानी	३६	
३ लहँडा	३,३३७,६१७	
४ सिन्धी	३,००६,३६५	
(ख) दक्षिणी उपशाखा		१८,२३७,८६६
५ मराठी	१८,२३७,८६६	
(ग) पूर्वी उपशाखा		६०,२४२,१६७
६ उड़िया	६,६८७,४२६	
७ बिहारी	३४,५७६,८४४	
८ बँगला	४४,६२४,०४८	
६ आसामी	१,३५०,८४६	

मध्यवर्ती शाखा

(घ) माध्यमिक उपशाखा		२२, १३६, ३५८
१० पूर्वी हिन्दी	२२, १३६, ३५८	

भीतरी शाखा

(ङ) पश्चिमी उपशाखा		७८, ६३२, ०९९
११ पश्चिमी हिन्दी	४०,७१४,९२५	
१२ राजस्थानी	१०,९१७,७१२	
१३ गुजराती	९,९२८,५०१	
१४ पञ्जाबी	१७,०७०,९६१	
(च) उत्तरी उपशाखा		३,१२४,६८१
१५ पश्चिमी पहाड़ी	१,७१०,०२९	
१६ मध्यवर्ती पहाड़ी	१,२७०,९३१	
१७ पूर्वी पहाड़ी	१४३,७२१	
		२१९,७२५,५०९

इससे मालूम हुआ कि संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषायें तीन शाखाओं, छः उपशाखाओं और सत्रह भाषाओं में विभक्त हैं और २१ करोड़ से भी अधिक आदमी उन्हें बोलते हैं। इस देश की आबादी २९४,३६१,०५६ अर्थात् कोई तीस करोड़ के लगभग है। उनमें से इक्कीस करोड़ आदमी ये भाषायें बोलते हैं, साढ़े पाँच करोड़ द्राविड़-भाषायें और शेष तीन करोड़ अनार्य्य विदेशी भाषायें। तामील, तैलगू, कनारी आदि द्राविड़-भाषायें मदरास प्रान्त में बोली जाती हैं। उनकी उत्पत्ति संस्कृत से

नहीं है । अतएव हिन्दी की उत्पत्ति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं । इसी से उनके विषय में यहाँ पर और कुछ नहीं लिखा जाता ।

ऊपर के लेखे से संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषा बोलनेवालों की संख्या २१९,७२५,५०९ आती है । पर पहले अध्याय के अन्त में लिखे अनुसार उनकी संख्या २१९, ७२६, २२५ होती है । इन अङ्कों में ७१६ का फ़र्क़ है । ये अङ्क उन लोगों की संख्या बतलाते हैं जिन्होंने अपनी भाषा विशुद्ध संस्कृत बतलाई है । ये ७१६ जन काशी के दिग्गज पण्डित नहीं हैं; किन्तु मदरास और माईसोर प्रान्त के कुछ लोग हैं जो विशेष करके संस्कृत ही बोलते हैं । पूर्वोक्त लेखे के टोटल में इनको भी शामिल कर लेने से संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषा बोलनेवालों की संख्या पूरी २१९, ७२६, २२५ हो जाती है ।

मराठी और पूर्वी हिन्दी में बहुत सी बोलियाँ शामिल हैं । इन दोनों उपशाखाओं से सम्बन्ध रखनेवाली बोलियाँ तो बहुत हैं, पर भाषायें इनके सिवा और कोई नहीं । इसी तरह उत्तरी उपशाखा में जो तीन भाषायें बतलाई गई हैं वे यथार्थ मे भाषायें नहीं हैं । बहुत सी मिलती-जुलती बोलियों के समूह जुदा-जुदा तीन भागों में विभक्त कर दिये गये हैं और प्रत्येक भाग का नाम भाषा रख दिया गया है । ये बोलियाँ हिन्दुस्तान के उत्तर में मंसूरी, नैनीताल, गढ़वाल और कमायूँ आदि पहाड़ी ज़िलों में बोली जाती हैं ।

तीसरा अध्याय

प्राकृत-काल

आर्य्य लोगों की सबसे पुरानी भाषा के नमूने ऋग्वेद में हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों का अधिकांश आर्यों ने अपनी रोज़मर्रा की बोल-चाल की भाषा में निर्म्माण किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं। रामायण, महाभारत और कालिदास आदि के काव्य जिस परिमार्जित भाषा में हैं वह भाषा पीछे की है; वेदों के ज़माने की नहीं। वेदों के अध्ययन, और उनके भिन्न-भिन्न स्थलों की भाषा के परस्पर मुक़ाबले, से इस बात का बहुत कुछ पता चलता है कि आर्य लोग कौनसी भाषा या बोली बोलते थे।

प्राकृत के तीन भेद

अशोक का समय ईसा के २५० वर्ष पहले है और पतञ्जलि का १५० वर्ष पहले। अशोक के शिला-लेखों और पतञ्जलि के ग्रन्थों से मालूम होता है कि ईसवी सन् के कोई तीन सौ वर्ष पहले उत्तरी भारत में एक ऐसी भाषा प्रचलित हो गई थी जिसमें भिन्न-भिन्न कई बोलियाँ शामिल थीं। वह पुरानी संस्कृत से निकली थीं जो उस ज़माने में बोली जाती थीं जिस ज़माने में कि वेद-मन्त्र की रचना हुई थी—अर्थात् जो पुरानी संस्कृत वैदिक ज़माने में बोल-चाल की भाषा थी उसी से यह नई भाषा

पैदा हुई थी। इस भाषा के साथ-साथ एक परिमार्जित भाषा की भी उत्पत्ति हुई। यह परिमार्जित भाषा भी पुरानी संस्कृत की किसी उपशाखा या बोली से निकली थी। इस परिमार्जित भाषा का नाम हुआ "संस्कृत" अर्थात् "संस्कार की गई"—"बनावटी"; और उस नई भाषा का नाम हुआ "प्राकृत" अर्थात् "स्वभावसिद्ध" या "स्वाभाविक।"

वेद-मंत्रों का कुछ भाग तो पुरानी संस्कृत में है और कुछ परिमार्जित संस्कृत में। इससे साबित है कि वेदों के ज़माने में भी प्राकृत बोली जाती थी। इस वैदिक समय की प्राकृत का नाम पहली प्राकृत रक्खा जा सकता है। इसके बाद इस पुरानी प्राकृत का जो रूपान्तर शुरू हुआ तो उसकी कितनी ही भाषायें बन गईं। पहले भी पुरानी प्राकृत कोई एक भाषा न थी। उसके भी कई भेद थे; पर देश-कालानुसार उसकी भेद-वृद्धि होती गई और धीरे-धीरे वर्तमान संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषाओं के रूप उसे प्राप्त हुए। इस मध्यवर्ती प्राकृत का नाम दूसरी प्राकृत रख सकते हैं। पहले तो संस्कृत की भी वृद्धि इस दूसरी प्राकृत के साथ ही साथ होती गई; पर वैयाकरणों ने व्याकरण की शृंखलाओं से संस्कृत की वर्द्धनशीलता रोक दी। इससे वह जहाँ की तहाँ ही रह गई; पर प्राकृत बढ़कर दूसरे दरजे को पहुँची। उसका तीसरा विकास वे सब भाषायें हैं जो आज कोई ९०० वर्ष से हिन्दुस्तान में बोली जाती हैं। हिन्दी भी इन्हीं में से एक है। उदाहरण के लिए वेदों की बहुत पुरानी संस्कृत पहली प्राकृत; पाली दूसरी प्राकृत और हिन्दी तीसरी प्राकृत है।

प्राकृत भाषाओं के लक्षण

इसका निर्णय करना कठिन है कि कब से कब तक किस प्राकृत का प्रचार रहा और प्रत्येक का ठीक-ठीक लक्षण क्या है। दूसरी तरह की प्राकृत का शुरू-शुरू में कैसा रूप था, यह भी अच्छी तरह जानने का कोई मार्ग नहीं। अशोक के शिला-लेखों में जो प्राकृत पाई जाती है वह शुरू-शुरू की दूसरी प्राकृत नहीं। वह उस समय की है जब उसे युवावस्था प्राप्त हो गई थी। फिर, दूसरी प्राकृत का रूपान्तर तीसरी में इतना धीरे-धीरे हुआ कि दोनों के मिलाप के समय की भाषा देखकर यह बतलाना असम्भव सा है कि कौन भाषा दूसरी के अधिक निकट है और कौन तीसरी के; परन्तु प्रत्येक प्रकार की प्राकृत के मुख्य-मुख्य गुण-धर्म्म बतलाना मुश्किल नहीं। प्रारम्भ-काल में प्राकृत का रूप संयोगात्मक था। व्यञ्जनों के मेल से बने हुए कर्णकटु शब्दों की उसमें प्रचुरता है। दूसरी अवस्था में उसका संयोगात्मक रूप तो बना हुआ है, पर कर्णकटुता उसकी कम हो गई है। यहाँ तक कि पीछे से वह बहुत ही ललित और अतिमधुर हो गई है। यह बात दूसरे प्रकार की प्राकृत के पिछले साहित्य से और भी अधिक स्पष्ट है। इस अवस्था में स्वरों का प्रयोग बहुत बढ़ गया है और व्यञ्जनों का कम हो गया है। प्राकृत की तीसरी अवस्था में स्वरों की प्रचुरता कम हो गई है। दो-दो तीन-तीन स्वर, जो एक साथ लगातार आते थे, उनकी जगह नये-नये संयुक्त स्वर और विभक्तियाँ आने लगीं। इसका फल यह हुआ कि भाषा का संयोगात्मक रूप

जाता रहा और उसे व्यवच्छेदक रूप प्राप्त हो गया—अर्थात् शब्दों के अंश एक से अधिक होने लगे। एक बात और भी हुई। वह यह कि नये-नये रूपों में संयुक्त व्यञ्जनों के प्रयोग की फिर प्रचुरता बढ़ी।

दूसरे प्रकार की प्राकृत

इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि शुरू-शुरू में दूसरे प्रकार की प्राकृत एक ही तरह से बोली जाती थी या कई तरह से—अर्थात् उससे सम्बन्ध रखनेवाली कोई प्रान्तिक बोलियाँ भी थीं या नहीं; परन्तु इस बात का पक्का प्रमाण मिलता है कि वैदिक काल की प्राकृत के कई भेद ज़रूर थे। जुदा-जुदा प्रान्तों के लोग उसे जुदा-जुदा तरह से बोलते थे। उसके कई आन्तरिक रूप थे। जब वैदिक समय की प्राकृत के कई भेद थे तब बहुत सम्भव है कि आरम्भ-काल में दूसरे प्रकार की प्राकृत के भी कई भेद रहे हों। उस समय इस भाषा का प्रचार सिन्धु नदी से कोसी तक था। वह बहुत दूर-दूर तक बोली जाती थी। अतएव यह सम्भव नहीं कि इस इतने विस्तृत प्रदेश में सब लोग उसे एक ही तरह से बोलते रहे हों। बोली में ज़रूर भेद रहा होगा। ज़रूर वह कई प्रकार से बोली जाती रही होगी। अशोक के समय के शिलालेख और स्तम्भ-लेख ईसा के कोई २५० वर्ष पहले के हैं। वे सब दो प्रकार की प्राकृत में हैं। एक पश्चिमी प्राकृत, दूसरी पूर्वी। यदि उस समय उसके ऐसे दो मुख्य भेद हो गये थे जिनमें अशोक को अपनी आज्ञायें तक लिखने की ज़रूरत पड़ी, तो, बहुत सम्भव है, और

भी कई भेद उसके रहे हों, और उस समय के पहले भी उनका होना असम्भव नहीं। बौद्ध-धर्म के प्रचार से इस दूसरी प्राकृत की बड़ी उन्नति हुई। इस धर्म्म के अध्यक्षों ने अपने धार्म्मिक ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे और वक्तृतायें भी इसी भाषा में कीं। इससे इसका महत्व बढ़ गया। आजकल यह दूसरी प्राकृत, पाली भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। पाली में प्राकृत का जो रूप था उसका धीरे-धीरे विकास होता गया क्योंकि भाषायें वर्द्धनशील और परिवर्तनशील होती हैं। वे स्थिर नहीं रहतीं। कुछ समय बाद पाली के मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि कई भेद हो गये। आजकल इन्हीं भेदों को "प्राकृत" कहने का रिवाज हो गया है। पाली को प्रायः कोई प्राकृत नहीं कहता और न वैदिक समय की बोल-चाल की भाषाओं ही को इस नाम से उल्लेख करता। प्राकृत कहने से आजकल इन्हीं मागधी आदि भाषाओं का बोध होता है।

साहित्य की प्राकृत

धार्म्मिक और राजनैतिक कारणों से प्राकृत की बड़ी उन्नति हुई। धार्म्मिक व्याख्यान उसमें दिये गये। धार्म्मिक ग्रन्थ उसमें लिखे गये। काव्यों और नाटकों में उसका प्रयोग हुआ। प्राकृत में लिखे गये कितने ही काव्य-ग्रन्थ अब तक इस देश में विद्यमान हैं और कितने ही धार्म्मिक ग्रन्थ सिंहल और तिब्बत में अब तक पाये जाते हैं। नाटकों में भी प्राकृत का बहुत प्रयोग हुआ। प्राकृत के कितने ही व्याकरण बन गये। कोई एक हज़ार वर्ष से भी अधिक समय तक प्राकृत का प्रभुत्व भारत-

वर्ष में रहा । ठीक समय तो नहीं मालूम, पर लगभग १००० ईसवी तक प्राकृत सजीव रही । तदनन्तर उसके जीवन का अन्त आया । उसका प्रचार, प्रयोग सब बन्द हुआ । वह मृत्यु को प्राप्त हो गई । इस प्राकृत की कई शाखायें थीं—इसके कई भेद थे । उनके विषय में जो कुछ हम जानते हैं वह प्राकृत के साहित्य की बदौलत । यदि इस भाषा के ग्रन्थ न होते, और यदि इसका व्याकरण न बन गया होता तो इससे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत कम बातें मालूम होतीं। पर खेद इस बात का है कि प्राकृत के ज़माने में जो भाषायें बोली जाती थीं उनका हमें यथेष्ट ज्ञान नहीं । साहित्य की भाषा बोल-चाल की भाषा नहीं हो सकती । प्राकृत-ग्रन्थ जिस भाषा में लिखे गये हैं वह बोलने की भाषा न थी । बोलने की भाषा को खूब तोड़-मरोड़-कर लेखकों ने लिखा है । जो मुहाविरे या जो शब्द उन्हें ग्राम्य, शिष्टताविघातक, या किसी कारण से अग्राह्य मालूम हुए उनको उन्होंने छोड़ दिया और मनमानी रचना करके एक बनावटी भाषा पैदा कर दी । अतएव साहित्य की प्राकृत बोल-चाल की प्राकृत नहीं । यद्यपि वह बोल-चाल की प्राकृत ही के आधार पर बनी थी, तथापि दोनों में बहुत अन्तर समझना चाहिए । इस अन्तर को जान लेना कठिन काम है । साहित्य की प्राकृत, और उस समय की बोल-चाल की प्राकृत का अन्तर जानने का कोई मार्ग नहीं । हम सिर्फ़ इतना ही जानते हैं कि अशोक के समय में दो तरह की प्राकृत प्रचलित थी—एक पश्चिमी, दूसरी पूर्वी । इनमें से प्रत्येक के गुण-धर्म जुदा-जुदा हैं—प्रत्येक का

लक्षण अलग-अलग है। पश्चिमी प्राकृत का मुख्य भेद शौर-सेनी है। वह शूरसेन प्रदेश की भाषा थी। गंगा-यमुना के बीच के देश में, और उसके आसपास, उसका प्रचार था। पूर्वी प्राकृत का मुख्य भेद मागधी है। वह उस प्रान्त की भाषा थी जो आजकल बिहार कहलाता है। इन दोनों देशों के बीच में एक और ही भाषा प्रचलित थी। वह शौरसेनी और मागधी के मेल से बनी थी और अर्द्ध-मागधी कहलाती थी। सुनते हैं, जैन तीर्थङ्कर महावीर इसी अर्द्ध-मागधी में जैन-धर्म का उपदेश देते थे। पुराने जैन-ग्रन्थ भी इसी भाषा में हैं। अर्द्ध-मागधी की तरह की एक और भी भाषा प्रचलित थी। उसका नाम था महाराष्ट्री। उसका झुकाव मागधी की तरफ़ अधिक था, शौरसेनी की तरफ़ कम। वह बिहार और उसके आसपास के ज़िलों की बोली थी। यही प्रदेश उस समय महाराष्ट्र कहलाता था। प्राकृत-काव्य विशेष करके इसी महाराष्ट्री भाषा में हैं।

———

चौथा अध्याय

अपभ्रंश-काल

अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति

दूसरे प्रकार की प्राकृत का विकास होते-होते उस भाषा की उत्पत्ति हुई जिसे "साहित्य-सम्बन्धी अपभ्रंश" कहते हैं। अप-भ्रंश का अर्थ है—"भ्रष्ट हुई" या "बिगड़ी हुई" भाषा। भाषा-शास्त्र के ज्ञाता जिसे "विकास" कहते हैं उसे ही और लोग भ्रष्ट होना या बिगड़ना कहते हैं। धीरे-धीरे प्राकृत भाषायें, लिखित भाषायें हो गईं। सैकड़ों पुस्तकें उनमें बन गईं। उनका व्याकरण बन गया। इससे वे बेचारी स्थिर हो गईं। उनकी अनस्थिरता, उनका विकास बन्द हो गया। यह लिखित प्राकृत की बात हुई, कथित प्राकृत की नहीं। जो प्राकृत लोग बोलते थे उसका विकास बन्द नहीं हुआ। वह बराबर विक-सित होती, अथवा यों कहिए कि बिगड़ती, गई। लिखित प्राकृत के आचार्यों और पण्डितों ने इसी विकास-पूर्ण भाषा को अपभ्रंश नाम से उल्लेख किया है। उनके हिसाब से वह भाषा भ्रष्ट हो गई थी। सर्वसाधारण की भाषा होने के कारण अपभ्रंश का प्रचार बढ़ा और साहित्य की स्थिरीभूत प्राकृत का कम होता गया। धीरे-धीरे उसके जाननेवाले दो ही चार रह गये। फल यह हुआ कि वह मृत भाषाओं की पदवी को

पहुँच गई। उसका प्रचार बिलकुल ही बन्द हो गया। वह "मर" गई। अब क्या हो? लोग लिखना-पढ़ना जानते थे। मूर्ख थे ही नहीं। लिखने के लिए ग्रन्थों की रचना के लिए कोई भाषा चाहिए ज़रूर थी। इससे वे ही अपभ्रंश काम में आने लगीं। उसी में पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इन पुस्तकों में से कुछ अब तक उपलब्ध हैं। इनकी भाषा उस समय की कथित भाषा का नमूना है। जिस तरह की भाषा में ये पुस्तकें हैं उसी तरह की भाषा उस समय बोली जाती थी; पर किस समय वह बोली जाती थी, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। जो प्रमाण मिलते हैं उनसे सिर्फ़ इतना ही मालूम होता है कि छठे शतक में अपभ्रंश भाषा में कविता होती थी। ग्यारहवें शतक के आरम्भ तक इस तरह की कविता के प्रमाण मिलते हैं। इस पिछले, अर्थात् ग्यारहवें, शतक में अपभ्रंश-भाषाओं का प्रचार प्रायः बन्द हो चुका था। वे भी मरण को प्राप्त हो चुकी थीं। तीसरे प्रकार की प्राकृत भाषाओं के लिखित नमूने बारहवें शतक के अन्त और तेरहवें के आरम्भ से मिलते हैं; और लिखी जाने के पहले इन तीसरी तरह की प्राकृत भाषाओं का रूप ज़रूर स्थिर हो गया होगा। अतएव कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान की वर्तमान संस्कृतोत्पन्न भाषाओं का जन्म कोई १००० ईसवी के लगभग हुआ।

अपभ्रंश भाषाओं के भेद

इस देश की वर्तमान भाषाओं के विकास की खोज के लिए, हमें लिखित प्राकृतों के नहीं, किन्तु लिखित अपभ्रंश

भाषाओं के आधार पर विचार करना चाहिए। किसी-किसी ने परिमार्जित संस्कृत से वर्तमान भाषाओं की उत्पत्ति मानी है। यह भूल है। इस समय की बोलचाल की भाषायें न संस्कृत से निकली हैं, न प्राकृत से; किन्तु अपभ्रंश से। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत और प्राकृत की सहायता से वर्तमान भाषाओं से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातें मालूम हो सकती हैं; पर ये भाषायें उनकी जड़ नहीं। जड़ के लिए तो अपभ्रंश भाषायें ढूँढ़नी होंगी।

लिखित साहित्य में सिर्फ़ एक ही अपभ्रंश भाषा का नमूना मिलता है। वह नागर अपभ्रंश है। उसका प्रचार बहुत करके पश्चिमी भारत में था। पर प्राकृत व्याकरणों में जो नियम दिये हुए हैं उनसे अन्यान्य अपभ्रंश भाषाओं के मुख्य-मुख्य लक्षण मालूम करना कठिन नहीं। यहाँ पर हम अपभ्रंश भाषाओं की सिर्फ़ नामावली देते हैं और यह बतलाते हैं कि कौन वर्तमान भाषा किस अपभ्रंश से निकली है।

बाहरी शाखा की अपभ्रंश भाषायें

सिन्ध नदी के अधोभाग के आसपास जो देश है उसमें ब्राचड़ा नाम की अपभ्रंश भाषा बोली जाती थी। वर्तमान समय की सिन्धी और लहँडा उसी से निकली हैं। लहँडा उसे प्रान्त की भाषा है जिस का पुराना नाम केकय देश है। सम्भव है, केकय देशवालों की भाषा, पुराने ज़माने में, कोई और ही रही हो—अथवा उस देश में असंस्कृत आर्य्य-भाषायें बोलने-वाले कुछ लोग बस गये हों। उनके योग से इस देश की भाषा एक

विशेष प्रकार की हो गई हो। अर्थात् उसमें संस्कृत और असंस्कृत दोनों तरह की आर्य्य-भाषाओं के शब्द मिल गये हों।

कोहिस्तानी और काश्मीरी भाषायें किस अपभ्रंश से निकली हैं, नहीं मालूम। जिस अपभ्रंश भाषा से ये निकली हैं वह ब्राचड़ा से बहुत कुछ समता रखती रही होगी।

नर्म्मदा के पार्वत्य प्रान्तों में, अरब समुद्र से लेकर उड़ीसा तक, उत्तर दक्षिण दोनों तरफ़ बहुत सी बोलियाँ बोली जाती रही होंगी। वैदर्भी अथवा दाक्षिणात्य नाम की अपभ्रंश भाषा से उनका बहुत कुछ सम्बन्ध रहा होगा। इस भाषा का प्रधान स्थल विदर्भ, अर्थात् वर्तमान बरार, था। संस्कृत-साहित्य में इस प्रान्त का नाम महाराष्ट्र है। वैदर्भी और उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य भाषाओं और बोलियों से वर्तमान मराठी की उत्पत्ति हो सकती है। पर मराठी के उस अपभ्रंश से निकलने के अधिक प्रमाण पाये जाते हैं जो महाराष्ट्र देश में बोली जाती थी। जिस प्राकृत भाषा का नाम महाराष्ट्री है वह साहित्य की प्राकृत है। पुस्तकें उसी में लिखी जाती थीं; पर वह बोली न जाती थी। बोलने की भाषा जुदी थी।

दाक्षिणात्य-भाषा-भाषी प्रदेश के पूर्व से लेकर बंगाले की खाड़ी तक ओडरी या उत्कली अपभ्रंश प्रचलित थी। वर्तमान उड़िया भाषा उसी से निकली है।

जिन प्रान्तों में ओडरी भाषा बोली जाती थी उनके उत्तर, अधिकतर छोटा नागपुर, बिहार और संयुक्त प्रान्तों के पूर्वी भाग में मागधी, प्राकृत की अपभ्रंश, मागध भाषा, बोली जाती

थी । इसका विस्तार बहुत बड़ा था । वर्तमान बिहारी भाषा उसी से उत्पन्न है । इस अपभ्रंश की एक बोली अब तक अपने पुराने नाम से मशहूर है । वह आज-कल मगही कहलाती है । मगही शब्द मागधी का ही अपभ्रंश है । मागध अपभ्रंश की किसी समय यही प्रधान बोली थी । यह अपभ्रंश भाषा पुरानी पूर्वी प्राकृत की समकक्ष थी । ओडरी, गौड़ी और ढकी भी उसी के विकास-प्राप्त रूप थे । उसके ये रूप बिगड़ते-बिगड़ते या विकास होते-होते, हो गये थे । मगही, गौड़ी, ढकी और ओडरी इन चारों भाषाओं की आदि जननी वही पुरानी पूर्वी प्राकृत समझना चाहिए । उसी से मागधी का जन्म हुआ और मागधी से इन सब का ।

मागधी के पूर्व गौड़ अथवा प्राच्य नाम की अपभ्रंश भाषा बोली जाती थी । उसका प्रधान अड्डा गौड़ देश अर्थात् वर्तमान मालदा ज़िला था । इस अपभ्रंश ने दक्षिण और दक्षिण-पूर्व तक फैलकर वहाँ वर्तमान बँगला भाषा की उत्पत्ति की ।

प्राच्य अपभ्रंश ने कुछ दूर और पूर्व जाकर ढाका के आस-पास ढकी अपभ्रंश की जड़ डाली । ढाका, सिलहट, कछार और मैमनसिंह ज़िलों में जो भाषा बोली जाती है वह इसी से उत्पन्न है ।

इस प्राच्य या गौड़ अपभ्रंश ने हिन्दुस्तान के पूर्व, गङ्गा के उत्तरी हिस्सों तक, क़दम बढ़ाया । वहाँ उसने उत्तरी बङ्गला की और आसाम में पहुँच कर आसामी की सृष्टि की । उत्तरी और पूर्वी बंगाल की भाषायें या बोलियाँ मुख्य बंगाल की किसी

भाषा या बोली से नहीं निकलीं। वे पूर्वोक्त गौड़ अपभ्रंश से उत्पन्न हुई हैं जो पश्चिम की तरफ़ बोली जाती थीं।

मागध अपभ्रंश उत्तर, दक्षिण और पूर्व तीन तरफ़ फैली हुई थी। उत्तर में उसकी एक शाखा ने उत्तरी बँगला और आसामी की उत्पत्ति की, दक्षिण में उड़िया की, पूर्व में ढक्की की, और उत्तरी बँगला और उड़िया के बीच में बँगला की। ये भाषायें अपनी जननी से एक सा सम्बन्ध रखती हैं। यही कारण है जो उत्तरी बँगला सुदूर दक्षिण में बोली जानेवाली उड़िया से, मुख्य बँगला भाषा की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध रखती है—दोनों में परस्पर अधिक समता है।

जैसा लिखा जा चुका है पूर्वी और पश्चिमी प्राकृतों की मध्यवर्ती भी एक प्राकृत थी। उसका नाम था अर्द्ध-मागधी। उसी के अपभ्रंश से वर्तमान पूर्वी हिन्दी की उत्पत्ति है। यह भाषा अवध, बघेलखण्ड और छत्तीसगढ़ में बोली जाती है।

भीतरी शाखा

यहाँ तक बाहरी शाखा की अपभ्रंश भाषाओं का ज़िक्र हुआ। अब रही भीतरी शाखा की अपभ्रंश भाषायें। उनमें से मुख्य अपभ्रंश नागर है। बहुत करके यह पश्चिमी भारत की भाषा थी, जहाँ नागर ब्राह्मणों का अब तक बाहुल्य है। इस अपभ्रंश में कई बोलियाँ शामिल थीं, जो दक्षिणी भारत के उत्तर की तरफ़ प्रायः समग्र पश्चिमी भारत में, बोली जाती थीं। गङ्गा-यमुना के बीच के प्रान्त का जो मध्यवर्ती भाग है। उसमें नागर अपभ्रंश का एक रूप, शौरसेन, प्रचलित था।

वर्तमान पश्चिमी हिन्दी और पञ्जाबी उसी से निकली हैं। नागर अपभ्रंश का एक और भी रूपान्तर था। उसका नाम था आवन्ती। यह अपभ्रंश भाषा उज्जैन प्रान्त में बोली जाती थी। राजस्थानी इसी से उत्पन्न है। गौर्जरी भी इसका एक रूप-विशेष था। वर्तमान गुजराती की जड़ वही है। आवन्ती और गौर्जरी, मुख्य नागर अपभ्रंश से बहुत कुछ मिलती थीं।

पूर्वी पंजाब से नेपाल तक, हिन्दुस्तान के उत्तर, पहाड़ी प्रान्तों में, जो भाषायें बोली जाती हैं वे किस अपभ्रंश या प्राकृत से निकली हैं, ठीक-ठीक नहीं मालूम। पर वहाँ की भाषायें वर्तमान राजस्थानी से बहुत मिलती हैं। और जो लोग पहाड़ी भाषायें बोलते हैं उनमें से कितने ही यह दावा रखते हैं कि हमारे पूर्वज राजपूताना से आकर यहाँ बसे थे। इससे जब तक और कोई प्रमाण न मिले तब तक इन पहाड़ी भाषाओं को भी राजपूताने की पुरानी आवन्ती से उत्पन्न मान लेना पड़ेगा।

———

पाँचवाँ अध्याय

आधुनिक काल

परिमार्जित संस्कृत

जैसा लिखा जा चुका है प्रारम्भिक, किंवा पहली, प्राकृत से सम्बन्ध रखनेवाली कई एक भाषायें या बोलियाँ थीं। उनका धीरे धीरे विकास होता गया। भारत की वर्तमान भाषायें उसी विकास का फल हैं। परिमार्जित संस्कृत भी इसी पहली प्राकृत की किसी शाखा से उत्पन्न हुई है। जिस स्थिर और निश्चित अवस्था में उसे हम देखते हैं वह वैयाकरणों की कृपा का फल है। व्याकरण बनाने वालों ने नियमों की शृंखला से उसे ऐसा जकड़ दिया कि वह जहाँ की तहाँ रह गई। उसका विकास बन्द हो गया। संस्कृत को नियमित करने के लिए कितने ही व्याकरण बने। उनमें से पाणिनि का व्याकरण सब से अधिक प्रसिद्ध है। इस व्याकरण ने संस्कृत को नियमित करने की पराकाष्ठा कर दी। उसने उसे बेतरह स्थिर कर दिया। यह बात ईसा के कोई ३०० वर्ष पहले हुई। धार्म्मिक ग्रन्थ सब इसी में लिखे जाने लगे। और विषयों के भी विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थों की रचना इसी परिमार्जित संस्कृत में होने लगी। परन्तु प्राकृत भाषाओं के वैयाकरणों ने संस्कृत के शब्दों और मुहावरों की क़दर न की। प्राकृत व्याकरणों में उनके नियम न

बनाये । प्राकृत के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें भी संस्कृत के शब्द और मुहावरे नहीं पाये जाते । प्राकृतवालों ने संस्कृत का बहिष्कार सा किया और संस्कृतवालों ने प्राकृत का । प्राकृत और संस्कृत के व्याकरणों और ग्रन्थों में तो पण्डितों ने एक दूसरे के शब्दों, मुहावरों और नियमों को न स्वीकार किया। पर बोलनेवालों ने इस बात की परवा न की । उच्च प्राकृत बोलनेवाले बातचीत में संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते थे । यह बात अब भी होती है; अर्थात् भारत की संस्कृतोत्पन्न वर्तमान भाषा बोलनेवाले पुस्तकों ही में नहीं, किन्तु बोल-चाल में भी संस्कृत शब्दों का व्यवहार करते हैं । इन संस्कृत शब्दों की, प्राकृत-काल में वही दशा हुई जो पुरानी प्राकृत से आये हुए शब्दों की हुई थी । वे बोलनेवालों के मुँह में विकृत हो गये । बोलते-बोलते उनका रूप बिगड़ गया । यहाँ तक कि फिर वे एक तरह के प्राकृत हो गये ।

परिमार्जित संस्कृत का शब्द-विभाग

जो शब्द संस्कृत से आकर प्राकृत में मिल गये हैं वे "तत्सम" शब्द कहलाते हैं और मूल प्राकृत शब्द जो सीधे प्राकृत से आये हैं "तद्भव" कहलाते हैं । पहले प्रकार के शब्द बिलकुल संस्कृत हैं । दूसरे प्रकार के प्रारम्भिक प्राकृत से आये हैं, अथवा यों कहिए कि वे प्राकृत, या प्राकृत की उस शाखा, से आये हैं जिससे खुद संस्कृत की उत्पत्ति हुई है । इन दो तरह के शब्दों के सिवा एक तीसरी तरह के शब्द भी प्रचलित हो गये हैं । ये वे तत्सम शब्द हैं जो प्राकृत-भाषा-भाषियों के मुँह से बिगड़ते-

बिगड़ते कुछ और ही रूप के हो गये हैं। इनको "अर्द्ध-तत्सम" कह सकते हैं। "तत्सम" शब्दों का स्वभाव "अर्द्ध-तत्सम" होने का है। फल इसका यह हुआ है कि "अर्द्ध-तत्सम" शब्द धीरे-धीरे इतने बिगड़ गये हैं कि उनका और "तद्भव" शब्दों का पहचानना मुश्किल हो गया है। दोनों प्रायः एक ही तरह के हो गये हैं। इस देश के वैयाकरणों ने कुछ शब्दों को, "देश्य" संज्ञा भी दी है। परन्तु ये शब्द भी प्रायः संस्कृत ही से निकले हैं; इससे इनको भी "तद्भव" शब्द ही मानना चाहिए। कुछ द्राविड़ भाषा के भी शब्द परिमार्जित संस्कृत में आकर मिल गये हैं। उनकी संख्या बहुत कम है। अधिक संख्या उन्हीं शब्दों की है जो पुरानी संस्कृत से आये हैं। यहाँ पुरानी संस्कृत से मतलब संस्कृत की उन पुरानी शाखाओं से है जो परिमार्जित संस्कृत की जननी नहीं हैं। पुरानी संस्कृत की जिस शाखा से परिमार्जित संस्कृत निकली है उसे छोड़कर और शाखाओं से ये शब्द आये हैं। इनकी भी गिनती (तद्भव) शब्दों में है।

हिन्दी का शब्द-विभाग

हिन्दी से मतलब यहाँ पर, पूर्वी और पश्चिमी दोनों तरह की हिन्दी से है। शब्द-विभाग के सम्बन्ध में हिन्दी का भी ठीक वही हाल है जो संस्कृत का है। अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अँगरेज़ी और द्राविड़ भाषाओं के शब्दों को छोड़कर शेष सारा शब्द-समूह संस्कृत ही की तरह, तत्सम, अर्द्ध-तत्सम और तद्भव शब्दों में बँटा हुआ है। हिन्दी में जितने तद्भव शब्द

हैं या तो वे प्रारम्भ की प्राकृतों से आये हैं, या दूसरी शाखा की प्राकृतों से होते हुए संस्कृत से आये हैं। परन्तु ठीक-ठीक कहाँ से आये हैं, इसके विचार की इस समय ज़रूरत नहीं। दूसरे दरजे की प्राकृत भाषाओं के ज़माने में चाहे वे तद्भव रहे हों, चाहे तत्सम; आधुनिक भाषाओं में वे विशुद्ध तद्भव हैं। क्योंकि आधुनिक भाषायें तीसरे दरजे की प्राकृत हैं, और ये सब शब्द दूसरे दरजे की प्राकृतों से आये हैं। परन्तु आज-कल के तत्सम और अर्द्ध-तत्सम शब्द प्रायः परिमार्जित संस्कृत से लिये गये हैं। उदाहरण के लिए "आज्ञा" शब्द को देखिए। वह विशुद्ध संस्कृत शब्द है। पर हिन्दी में आता है। इससे तत्सम हुआ। इसका अर्द्ध-तत्सम रूप है "अग्याँ"। इसे बहुधा अपढ़ और अच्छी हिन्दी न जाननेवाले लोग बोलते हैं। इसी का तद्भव शब्द "आना" है। यह संस्कृत से नहीं, किन्तु दूसरी शाखा की प्राकृत के "आणा" शब्द का अपभ्रंश है। इसी तरह "राजा" शब्द तत्सम है, "राय" तद्भव। प्रत्येक शब्द के तत्सम, अर्द्ध-तत्सम और तद्भव रूप नहीं पाये जाते। किसी के तीनों रूप पाये जाते हैं। किसी के सिर्फ़ दो, किसी का सिर्फ़ एक ही। किसी-किसी शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप हिन्दी में मिलते हैं। पर अर्थ उनके जुदा-जुदा हैं। संस्कृत "वंश" शब्द को देखिए। उसका अर्थ "कुटुम्ब" भी है और "बाँस" भी। उसके अर्द्ध-तत्सम "वंश" शब्द का अर्थ तो "कुटुम्ब" है; पर उससे दूसरा अर्थ नहीं निकलता। वह अर्थ उसके तद्भव शब्द "बाँस" से निकलता है।

हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव

हिन्दी ही पर नहीं, किन्तु हिन्दुस्तान की प्रायः सभी वर्तमान भाषाओं पर, आज सैकड़ों वर्ष से संस्कृत का प्रभाव पड़ रहा है। संस्कृत के अनन्त शब्द आधुनिक भाषाओं में मिल गये हैं। परन्तु उसका प्रभाव सिर्फ वर्तमान भाषाओं के शब्द-समूह पर ही पड़ा है, व्याकरण पर नहीं। हिन्दी-व्याकरण पर आप चाहे जितना ध्यान दीजिए, उसका चाहे जितना विचार कीजिए, संस्कृत का प्रभाव आपको उसमें बहुत कम ढूँढ़े मिलेगा। संस्कृत शब्दों का प्रयोग तो हिन्दी में बढ़ता जाता है, पर संस्कृत-व्याकरण के नियमों के अनुसार हिन्दी-व्याकरण में बहुत ही कम फेर-फार होते हैं। बहुत ही कम क्यों, यदि कोई कहे कि बिलकुल नहीं होते, तो भी अत्युक्ति न होगी। आचार-आहार, विचार, विहार, जल, फल, कला, विद्या आदि सब तत्सम शब्द हैं। ये तद्वत् हिन्दी में लिख दिये जाते हैं। बहुत कम फेर-फार होता है। और होता भी है, तो विशेष करके बहुवचन में—जैसे, आहारों, विचारों, कलाओं, विद्याओं आदि। यदि इनमें विभक्तियाँ लगाई जाती हैं तो संस्कृत की तरह इनका रूपान्तर नहीं हो जाता। हिन्दी में पुरुष और वचन के अनुसार क्रियाओं का रूप तो बदल जाता है; पर विभक्तियाँ लगने से संज्ञाओं के रूपों में बहुत कम अदल-बदल होता है। इसी से तत्सम शब्दों से क्रिया का काम नहीं निकलता। यदि ऐसे शब्दों को क्रिया का रूप देना होता है तो एक तद्भव शब्द और जोड़ना

पड़ता है। "दर्शन" शब्द तत्सम है। अब इससे यदि क्रिया का काम लेना हो तो "करना" और जोड़ना पड़ेगा। अतएव सर्वसाधारण लक्षण यह है कि हिन्दी में जितने नाम या संज्ञायें हैं सब या तो तत्सम हैं, या अर्द्ध-तत्सम हैं, या तद्भव हैं; पर क्रियायें जितनी हैं सब तद्भव हैं। यह स्थूल लक्षण है। इसमें कुछ अपवाद भी है, पर उनके कारण इस व्यापक लक्षण में बाधा नहीं आ सकती।

जब से इस देश में छापेख़ाने खुले और शिक्षा की वृद्धि हुई, तब से हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत अधिकता से होने लगा। संस्कृत के कठिन कठिन शब्दों को हिन्दी में लिखने की चाल सी पड़ गई। किसी-किसी पुस्तक के शब्द यदि गिने जायँ तो फ़ी सदी ५० से भी अधिक संस्कृत के तत्सम शब्द निकलेंगे। बँगला में तो इस तरह के शब्दों की और भी भरमार है। किसी-किसी बँगला पुस्तक में फ़ी सदी ८८ शब्द विशुद्ध संस्कृत के देखे गये हैं। ये शब्द ऐसे नहीं कि इनकी जगह अपनी भाषा के सीधे-सादे बोल-चाल के शब्द लिख ही न जा सकते हों। नहीं, जो अर्थ इन संस्कृत शब्दों से निकलता है उसी अर्थ के देनेवाले अपनी निज की भाषा के शब्द आसानी से मिल सकते हैं। पर कुछ चाल ही ऐसी पड़ गई है कि बोल-चाल के शब्द लोगों को पसन्द नहीं आते। वे यथासम्भव संस्कृत के मुश्किल-मुश्किल शब्द लिखना ही ज़रूरी समझते हैं। फल इसका यह हुआ है कि हिन्दी दो तरह की हो गई है। एक तो वह जो सर्वसाधारण में बोली जाती

है, दूसरी वह जो पुस्तकों, अख़बारों और सामयिक पुस्तकों में लिखी जाती है। कुछ अख़बारों के सम्पादक इस दोष को समझते हैं। इससे वे बहुधा बोल-चाल ही की हिन्दी लिखते हैं। उपन्यास की कुछ पुस्तकें भी सीधी-सादी भाषा में लिखी गई हैं। जिन अख़बारों और पुस्तकों की भाषा सरल होती है उनका प्रचार भी औरों से अधिक होता है। इस बात को जान-कर भी लोग क्लिष्ट भाषा लिख कर भाषा-भेद बढ़ाना नहीं छोड़ते। इसका अफ़सोस है। कोई कारण नहीं कि जब तक बोल-चाल की भाषा के शब्द मिलें, संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है जो 'गृह' लिखा जाय? 'क़लम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखा जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाय? संस्कृत जानना हम लोगों का ज़रूर कर्तव्य है। पर उसके मेल से अपनी बोल-चाल की हिन्दी को दुर्बोध करना मुनासिब नहीं। पुस्तकें लिखने का सिर्फ़ इतना ही मतलब होता है कि जो कुछ उनमें लिखा गया है वह पढ़नेवालों की समझ में आ जाय। जितने ही अधिक लोग उन्हें पढ़ेंगे उतना ही अधिक लिखने का मतलब सिद्ध होगा। तब क्या ज़रूरत है कि भाषा क्लिष्ट करके पढ़नेवालों की संख्या कम की जाय? जो संस्कृत-भाषा हज़ारों वर्ष पहले बोली जाती थी उसे मिलाने की कोशिश करके अपनी भाषा के स्वाभाविक विकास का रोकना बुद्धिमानी का काम नहीं। स्वतंत्रता सबके लिए एक सी लाभदायक है। कौन ऐसा आदमी है जिसे स्वतन्त्रता प्यारी न हो? फिर

क्यों हिन्दी से संस्कृत की पराधीनता भोग कराई जाय? क्यों न वह स्वतन्त्र कर दी जाय? संस्कृत, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हो गये हैं उनका प्रयोग हिन्दी में होना ही चाहिए। वे सब अब हिन्दी के शब्द बन गये हैं। उनसे घृणा करना उचित नहीं।

डाकृर ग्रियर्सन की राय है कि काशी के कुछ लोग हिन्दी की क्लिष्टता को बहुत बढ़ा रहे हैं। वहाँ संस्कृत की चर्चा अधिक है। इस कारण संस्कृत का प्रभाव हिन्दी पर पड़ता है। काशी में तो किसी-किसी को उच्च भाषा लिखने का अभिमान है। यह उनकी नादानी है। यदि हिन्दी का कोई शब्द न मिले तो संस्कृत का शब्द लिखने में हानि नहीं; पर जान बूझ कर भाषा को उच्च बनाना हिन्दी के पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। जिन भाषाओं से हिन्दी की उत्पत्ति हुई है उनमें मन के सारे भावों के प्रकाशित करने की शक्ति थी। वह शक्ति हिन्दी में बनी हुई है। उसका शब्द-समूह बहुत बड़ा है। पुरानी हिन्दी में उत्तमोत्तम काव्य, अलङ्कार और वेदान्त के ग्रन्थ भरे पड़े हैं। कोई बात ऐसी नहीं, कोई भाव ऐसा नहीं, कोई विषय ऐसा नहीं जो विशुद्ध हिन्दी शब्दों में न लिखा जा सकता हो। तिस पर भी बड़े अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि कुछ लोग, कुछ वर्षों से, एक बनावटी क्लिष्ट भाषा लिखने लगे हैं। पढ़नेवालों की समझ में उनकी भाषा आवेगी या नहीं, इसकी उन्हें परवा नहीं रहती। सिर्फ़ अपनी विद्वत्ता दिखाने की उन्हें परवा रहती है। बस! कला-

कोशल और विज्ञान आदि के पारिभाषिक शब्दों का भाव यदि संस्कृत शब्दों में दिया जाय तो हर्ज नहीं। इस बात की शिकायत नहीं। शिकायत, साधारण तौर पर, सभी तरह की पुस्तकों में संस्कृत शब्द भर देने की है। इन्हीं बातों के ख़याल से गवर्नमेंट ने मदरसों की प्रारम्भिक पुस्तकों की भाषा बोलचाल की कर दी है। अतएव हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों को भी चाहिए कि संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग यथासम्भव कम किया करें।

द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव

प्राचीन आर्य्य जब भारतवर्ष में पहले पहल पधारे तब भारतवर्ष उजाड़ न था। आबाद था। जो लोग यहाँ रहते वे आर्य्यों की तरह सभ्य न थे। आर्य्यों ने धीरे-धीरे उनको आगे हटाया और उनके देश पर कब्ज़ा कर लिया। प्राचीन आर्य्यों के ये प्रतिपक्षी वर्तमान द्राविड़ और मुंडा जाति के पूर्वज थे। उनमें और आर्य्यों में वैर-भाव रहने पर भी कुछ दिनों बाद सब पास रहने लगे। परस्पर का भेद-भाव बहुत कुछ कम हो गया। आपस में शादी-ब्याह तक होने लगे। परस्पर के रीति-रस्म बहुत कुछ एक हो गये। इस निकट सम्पर्क के कारण द्राविड़ भाषा के बहुत से शब्द संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषाओं में आ गये। वे प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए वर्तमान हिन्दी में भी आ पहुँचे हैं। यद्यपि उनका वह पूर्वरूप नहीं रहा, तथापि ढूँढ़ने से अब भी उनका पता चलता है। आदिम आर्य्य एशिया के जिस प्रान्त से भारत में आये थे उस

प्रान्त में भारत की बहुत सी चीज़ें न होती थीं। इस भारत में आकर आर्य्यों ने उन चीज़ों के नाम द्राविड़ और मुंडा जाति के पूर्वजों से सीखे और उन्हें अपनी भाषा में मिला लिया। इसके सिवा कोई-कोई बातें ऐसी भी हैं जिन्हें आर्य्य लोग कई तरह से कह सकते थे। इस दशा में उनके कहने का जो तरीक़ा द्राविड़ लोगों के कहने के तरीक़े से अधिक मिलता था उसी को वे अधिक पसन्द करते थे। पुरानी संस्कृत का एक शब्द है 'कृते,' जिसका अर्थ है 'लिए'। होते-होते इसका रूपान्तर 'कहुँ' हुआ। वर्तमान 'को' इसी का अपभ्रंश है। इसका कारण यह है कि द्राविड़ भाषा में एक विभक्ति थी 'कु'। वह सम्प्रदान कारक के लिए थी और अब तक है। उसे देख-कर पुराने आर्य्यों ने सम्प्रदान कारक के और और चिह्नों को छोड़कर 'कृते' के ही अपभ्रंश को पसन्द किया। जिन लोगों का सम्पर्क द्राविड़ों के पूर्वजों से अधिक था उन्हीं पर उनकी भाषा का अधिक असर हुआ, औरों पर कम या बिलकुल ही नहीं। यही कारण है कि आर्य्य-भाषाओं की कितनी ही शाखाओं में द्राविड़ भाषा के प्रभाव का बहुत ही कम असर देखा जाता है। किसी-किसी भाषा में तो बिलकुल ही नहीं है।

भाषा-विकास के नियमों के वशीभूत होकर कठोर वर्ण कोमल हो जाया करते हैं और बाद में बिलकुल ही लोप हो जाते हैं। प्राचीन संस्कृत के "चलति" (जाता है, चलता है) शब्द को देखिए। वह पहले तो "चलति" हुआ, फिर "चलइ"।

"त" बिलकुल ही जाता रहा । भाषा-शास्त्र के एक व्यापक नियमानुसार यह परिवर्तन हुआ । पर कहीं-कहीं इस नियम के अपवाद पाये जाते हैं । उदाहरण के लिए संस्कृत "शोक" शब्द को लीजिए । उसे "सोअ" होना चाहिए था । पर "सोअ" न होकर "सोग" हो गया । अर्थात् 'क' व्यञ्जन का रूपान्तर 'ग' बना रहा । यह इसलिए हुआ क्योंकि द्राविड़ भाषा में इस तरह के व्यञ्जनों का बहुत प्राचुर्य्य है । अतएव सिद्ध है कि संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषाओं पर द्राविड़ भाषाओं का असर ज़रूर पड़ा । और उस असर के चिह्न हिन्दी में भी पाये जाते हैं ।

और भाषाओं का प्रभाव

मुसलमानों के सम्पर्क से फ़ारसी के अनेक शब्द हिन्दी में मिल गये हैं । साथ ही इसके कितने ही शब्द अरबी के और थोड़े से तुर्की के शब्द भी आ मिले हैं । पर ये अरबी और तुर्की के शब्द फ़ारसी से होकर आये हैं । अर्थात् फ़ारसी बोलनेवालों ने जिन अरबी और तुर्की शब्दों को अपनी भाषा में ले लिया था वही शब्द मुसलमानों के संयोग से हिन्दुस्तान में प्रचलित हुए हैं । ख़ास अरबी और तुर्की बोलनेवालों के संयोग से हिन्दी में नहीं आये । यद्यपि अरबी, तुर्की और फ़ारसी के बहुत से शब्द हिन्दी में मिल गये हैं, तथापि उनके कारण हिन्दी के व्याकरण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । इन विदेशी भाषाओं के शब्दों ने हिन्दी की शब्द-संख्या ज़रूर बढ़ा दी है, पर व्याकरण पर उनका कुछ भी असर नहीं पड़ा । हाँ, इन

शब्दों के कारण एक बात लिखने लायक जो हुई है वह यह है कि मुसल्मान और फ़ारसीदाँ हिन्दू जब ऐसी हिन्दी लिखते हैं, जिसमें फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द अधिक होते हैं, तब उनके वाक्यविन्यास का क्रम साधारण हिन्दी से कुछ जुदा तरह का ज़रूर हो जाता है।

फ़ारसी, अरबी और तुर्की के सिवा पोर्चुगीज़, डच, और अँगरेज़ी भाषा के भी कुछ शब्द हिन्दी में आ मिले हैं। उनमें अँगरेज़ी शब्दों की संख्या अधिक है। इसका कारण अँगरेज़ों का अधिक सम्पर्क है। यह सम्पर्क जैसे-जैसे बढ़ता जायगा तैसे-तैसे और भी अधिक अँगरेज़ी शब्दों के आ मिलने की सम्भावना है।

सारांश

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे मालूम हुआ कि हमारे आदिम आर्य्यों की भाषा पुरानी संस्कृत थी। उसके कुछ नमूने ऋग्वेद में वर्तमान हैं। उसका विकास होते-होते कई प्रकार की प्राकृतें पैदा हो गईं। हमारी विशुद्ध संस्कृत किसी पुरानी प्राकृत से ही परिमार्जित हुई है। प्राकृतों के बाद अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई और उनसे वर्तमान संस्कृतोत्पन्न भाषाओं की। हमारी वर्तमान हिन्दी, अर्धमागधी और शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है। अतएव जो लोग यह समझते हैं कि हिन्दी की उत्पत्ति प्रत्यक्ष संस्कृत से है वे डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति के अनुसार भूलते हैं। डाक्टर साहब की राय सयुक्तिक जान पड़ती है। वे आज कई वर्षों से भाषाओं की खोज का

काम कर रहे हैं। इस खोज में जो प्रमाण उनको मिले हैं उन्हीं के आधार पर उन्होंने अपनी राय क़ायम की है। एक बात तो बिलकुल साफ़ है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भर-मार अभी कल से शुरू हुई है। परिमार्जित संस्कृत चाहे सर्वसाधारण की बोली कभी रही भी हो, पर उसके बाद हज़ारों वर्ष तक जो भाषायें इस देश में बोली गई होंगी उन्हीं से आज-कल की भाषाओं और बोलियों की उत्पत्ति मानना अधिक सम्भवनीय जान पड़ता है। जिस परिमार्जित संस्कृत को कुछ ही लोग जानते थे उससे सर्वसाधारण की बोलियों और भाषाओं का उत्पन्न होना बहुत कम सम्भव मालूम होता है।

यह निबन्ध यद्यपि हिन्दी ही की उत्पत्ति का दिग्दर्शन करने के लिए है तथापि प्रसङ्गवश और और भाषाओं की उत्पत्ति और उनके बोलनेवालों की संख्या आदि का भी उल्लेख कर दिया गया है। आशा है पाठकों को यह बात नागवार न होगी।

छठा अध्याय

उपसंहार

आज तक कुछ लोगों का ख़याल था कि हिन्दी की जननी संस्कृत है। यह बात भारत की भाषाओं की खोज से ग़लत साबित हो गई। जो उद्गमस्थान परिमार्जित संस्कृत का है, हिन्दी जिन भाषाओं से निकली है उनका भी वही है। इस बात को सुनकर बहुतों को आश्चर्य होगा। सम्भव है उन्हें यह बात ठीक न जँचे, पर जब तक इसके ख़िलाफ़ कोई सबूत न दिये जायँ, तब तक इस सिद्धान्त को मानना ही पड़ेगा।

बिहारी भाषा

भाषाओं की जाँच से एक और भी नई बात मालूम हुई है। वह यह है कि बिहारी भाषा यद्यपि हिन्दी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है तथापि वह उसकी शाखा नहीं। वह बँगला से अधिक सम्बन्ध रखती है, हिन्दी से कम। इसी से बिहारियों की गिनती हिन्दी बोलनेवालों में नहीं की गई। उसे एक निराली भाषा मानना पड़ा है। वह पूर्वी उपशाखा के अन्तर्गत है और बँगला, उड़िया और आसामी की बहन है। पूर्वी हिन्दी और बिहारी की डाँड़ा-मेड़ी है, पर पूर्वी हिन्दी की तरह वह अर्द्ध-मागध अपभ्रंश से नहीं निकली। वह पुराने मागध अपभ्रंश से उत्पन्न हुई है। बँगला देश के वासी 'स' को 'श' उच्चारण करते हैं। बिहारियों को भी ऐसा ही उच्चारण करना चाहिए था; क्योंकि उनकी

भाषा का उत्पत्ति-स्थान वही है जो बंगालियों की भाषा का है। पर बिहारी ऐसा नहीं करते। इससे उनकी भाषा की उत्पत्ति के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए। पूर्वी हिन्दी बोलनेवालों से बिहारियों का अधिक सम्पर्क रहा है और अब भी है। बिहारियों की भाषा यद्यपि बँगला की बहन है तथापि बँगला की अपेक्षा संयुक्त प्रान्त से ही उनका हेल-मेल अधिक रहा है। इसी से उच्चारण-सम्बन्धी बंगालियों की 'श' वाली विशेषता बिहारियों की बोली से धीरे-धीरे जाती रही है। यद्यपि बिहारी 'स' को 'श' नहीं उच्चारण करते, तथापि 'स' को 'श' वे लिखते अब तक हैं। अब तक उनकी यह आदत नहीं छूटी।

बिहारी भाषा के अन्तर्गत पाँच बोलियाँ हैं। उनके नाम और बोलनेवालों की संख्या नीचे दी जाती है:—

मैथिली	१०, ३८७, ८६८
मगही	६, ५८४, ४६७
भुजपुरी	१७, ३६७, ०७८
पूर्वी	२३६, २५९
अज्ञातनाम	४, ११२
	३४, ५७९, ८४४

इस भाषा में विद्यापति ठाकुर बहुत प्रसिद्ध कवि हुए। और भी कितने ही कवि हुए हैं जिन्होंने नाटक और काव्य-ग्रन्थों की रचना की है।

बिहारियों की प्रधान लिपि कैथी है।

पूर्वी हिन्दी

अर्द्धमागधी प्राकृत के अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी निकली है। जैन लोगों के प्रसिद्ध तीर्थङ्कर महावीर ने इस अर्द्धमागधी में अपने अनुगामियों को उपदेश दिया था। इसी से जैन लोग इस भाषा को बहुत पवित्र मानते हैं। उनके बहुत से ग्रन्थ इसी भाषा में हैं। तुलसीदास ने अपनी रामायण इस पूर्वी हिन्दी में लिखी है। इसके तीन भेद हैं। अथवा यों कहिए कि पूर्वी हिन्दी में तीन बोलियाँ शामिल हैं। अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनमें से अवधी भाषा में बहुत कुछ लिखा गया है। मलिक महम्मद जायसी और तुलसीदास इस भाषा के सबसे अधिक प्रसिद्ध कवि हुए। जिसे व्रज-भाषा कहते हैं उसका मुक़ाबला, कविता की अगर और किसी भाषा ने किया है तो अवधी ही ने किया है। रीवाँ दरबार के कुछ कवियों ने बघेली भाषा में भी पुस्तकें लिखी हैं; पर अवधी भाषा के पुस्तक-समूह के सामने वे दाल में नमक के बराबर भी नहीं हैं। छत्तीसगढ़ी में तो साहित्य का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए।

पश्चिमी हिन्दी

पूर्वी हिन्दी तो मध्यवर्ती शाखा से निकली है अर्थात् बाहरी और भीतरी दोनों शाखाओं की भाषाओं के मेल से बनी है; पश्चिमी हिन्दी की बात जुदा है। वह भीतरी शाखा से सम्बन्ध रखती है और राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी की बहन है। इस भाषा के कई भेद हैं। उनमें से हिन्दुस्तानी, व्रजभाषा,

क़न्नौजी, बुँदेली, बाँगरू और दक्षिणी मुख्य हैं। इनके बोलने-वालों की संख्या इस प्रकार है।

हिन्दुस्तानी (ख़ास)	... ७, ०७२, ७४५
और तरह की हिन्दुस्तानी जिसमें फुटकर भाषायें शामिल हैं	... ५, ९२१, ३८४
व्रजभाषा	... ८, ३८०, ७२४
क़न्नौजी	... ५, ०८२, ००६
बुँदेली	... ५, ४६०, २८०
बाँगरू	... २, ५०५, १५८
दक्षिण	... ६, २९२, ६२८
	कुल...४०, ७१४, ९२५

याद रखिए यह वर्गीकरण डाक्टर ग्रियर्सन का किया हुआ है। इसमें कहीं उर्दू का नाम नहीं आया। हिन्दी के जो दो बड़े-बड़े विभाग किये गये हैं उनमें से एक में भी उर्दू अलग भाषा या बोली नहीं मानी गई। जिसको लोग उर्दू कहते हैं उसके बोलनेवालों की संख्या हिन्दुस्तानी बोलनेवालों में शामिल है। इस भाषा के विषय में कुछ विशेष बातें लिखनी हैं। इससे उसे आगे के लिए रख छोड़ते हैं।

व्रज-भाषा

गंगा-यमुना के बीच के मध्यवर्ती प्रान्त में, और उसके दक्षिण, देहली से इटावे तक, व्रज-भाषा बोली जाती है। गुड़-गाँवा और भरतपुर, करोली और ग्वालियर की रियासतों में भी

व्रज-भाषा के बोलनेवाले हैं। पुराने ज़माने में शूरसेन देश के एक भाग का नाम था व्रज। उसी के नामानुसार व्रज-भाषा का नाम हुआ है। इस भाषा के कवियों में सूरदास और बिहारी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। अँगरेज़-विद्वानों की, विशेष करके ग्रियर्सन साहब की, राय में सूरदास और तुलसीदास का परस्पर मुक़ाबला ही नहीं हो सकता; क्योंकि उनकी राय में तुलसीदास केवल कवि ही न थे, समाज-संशोधक भी थे। मनुष्य के मानसिक विकारों का जैसा अच्छा चित्र तुलसीदास ने अपनी कविता में खींचा है वैसा और किसी से नहीं खींचा गया।

क़न्नौजी

क़न्नौजी, व्रज-भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इटावा से इलाहाबाद के पास तक, अन्तर्वेद में, इसका प्रचार है। अवध के हरदोई और उन्नाव ज़िलों में भी यही भाषा बोली जाती है। हरदोई में ज्यादह उन्नाव में कम। इस भाषा में कुछ भी साहित्य नहीं है। कोई १०० वर्ष हुए श्रीरामपुर के पादरियों ने बाइबल का एक अनुवाद इस प्रान्तिक भाषा में प्रकाशित किया था। उसे देखने से मालूम होता है कि तब की और अब की भाषा में फ़र्क़ हो गया है। कितने ही शब्द जो पहले बोले जाते थे अब नहीं बोले जाते।

बुँदेली

बुँदेली बुँदेलखण्ड की बोली है। झाँसी, जालौन, हमीरपुर और ग्वालियर राज्य के पूर्वी प्रान्त में यह बोली जाती है। मध्यप्रदेश के दमोह, सागर, सिउनी, नरसिंहपुर ज़िलों की भी

बोली बुँदेली ही है । छिंदवाड़ा और हुशङ्गाबाद तक के कुछ हिस्सों में यह बोली जाती है । बाइबल के एक-आध अनुवाद के सिवा इसमें भी कोई साहित्य नहीं है । व्रज-भाषा, क़न्नौजी और बुँदेली आपस में एक दूसरी से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं ।

बाँगरू

हिसार, झींद, रोहतक, करनाल आदि ज़िलों की भाषा बाँगरू है । इन प्रान्तों की बोलियों के हरियानी और जाटु आदि भी नाम हैं, पर बाँगरू नाम अधिक सयुक्तिक और अधिक व्यापक है; क्योंकि बाँगर में, अर्थात् पंजाब के दक्षिण-पूर्व जो ऊँचा और खुश्क देश है उसमें, यह बोली जाती है । देहली के आस-पास की भी यही भाषा है । पर करनाल के आगे यह नहीं बोली जाती । वहाँ से पंजाबी शुरू होती है ।

दक्षिणी

दक्षिण के मुसल्मान जो हिन्दी बोलते हैं उसका नाम दक्षिणी हिन्दी रक्खा गया है । इस हिन्दी के बोलनेवाले बम्बई, बरोदा, बरार, मध्यप्रदेश, कोचीन, कुर्ग, हैदराबाद, मदरास, माइसोर और ट्रावनकोर तक में पाये जाते हैं । ये लोग अपनी भाषा लिखते यद्यपि फ़ारसी अक्षरों में हैं, तथापि फ़ारसी शब्दों की भरमार नहीं करते । ये लोग मुझे या मुझको की जगह "मेरे को" बोलते हैं और कभी-कभी "मैं खाना खाया" की तरह के "ने" विहीन वाक्य प्रयोग करते हैं । दक्षिणी हिन्दी बोलनेवालों की संख्या थोड़ी नहीं है । कोई ६३ लाख है ।

सुदूरवर्ती माइसोर, कुर्ग, मदरास, और ट्रावनकोर तक में इस हिन्दी के बोलनेवाले हैं, और लाखों हैं।

हिन्दुस्तानी

हिन्दुस्तानी के दो भेद हैं। एक तो वह जो पश्चिमी हिन्दी की शाखा है, दूसरी वह जो साहित्य में काम आती है। पहली गङ्गा-यमुना के बीच का जो देश है उसके उत्तर में, रुहेलखण्ड में, और अम्बाला ज़िला के पूर्व में, बोली जाती है। यह पश्चिमी हिन्दी की शाखा है। यही धीरे-धीरे पंजाबी में परिणत हो गई है। मेरठ के आस-पास और उसके कुछ उत्तर यह भाषा अपने विशुद्ध रूप में बोली जाती है। वहाँ उसका वही रूप है जिसके अनुसार हिन्दी (हिन्दुस्तानी) का व्याकरण बना है। रुहेल-खण्ड में यह धीरे-धीरे क़न्नौज में और अम्बाले में पंजाबी में परिणत हो गई है। दूसरी वह है जिसे पढ़े-लिखे आदमी बोलते हैं और जिसमें अख़बार और किताबें लिखी जाती हैं। हिन्दु-स्तानी की उत्पत्ति और उसके प्रकारादि के विषय में आज तक भाषा-शास्त्र के विद्वानों की जो राय थी वह भ्रान्त साबित हुई है। मीर अम्मन ने अपने "बाग़ोबहार" की भूमिका में हिन्दु-स्तानी भाषा की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि वह अनेक भाषाओं के मेल से उत्पन्न हुई है। कई जातियों और कई देशों के आदमी जो देहली के बाज़ार में परस्पर मिलते-जुलते और बात-चीत करते थे वही इस भाषा के उत्पादक हैं। यह बात अब तक ठीक मानी गई थी और डाक्टर ग्रियर्सन आदि सभी विद्वानों ने इस मत को क़बूल कर लिया था। पर भाषाओं की

जाँच-पड़ताल से यह मत भ्रामक निकला। हिन्दुस्तानी और कुछ नहीं, सिर्फ़ ऊपरी दोआब की स्वदेशी भाषा है। वह देहली की बाज़ारू बोली हरगिज़ नहीं। हाँ उसके स्वाभाविक रूप पर साहित्य-परिमार्जन का जिलो ज़रूर चढ़ाया गया है और कुछ गँवारू मुहावरे उससे ज़रूर निकाल डाले गये हैं। बस उसके स्वाभाविक रूप में इतनी ही अस्वाभाविकता आई है। इस भाषा का "हिन्दुस्तानी" नाम हम लोगों का रक्खा हुआ नहीं है। यह साहब लोगों की कृपा का फल है। हम लोग तो इसे हिन्दी ही कहते हैं। देहली के बाज़ार में तुर्क, अफ़गान और फ़ारस-वालों का हिन्दुओं से सम्पर्क होने के पहले भी यह भाषा प्रचलित थी। पर उसका उर्दू नाम उसी समय से हुआ। देहली में मुसल्मानों के संयोग से हिन्दी-भाषा का विकास ज़रूर बढ़ा। विकास ही नहीं, इसके प्रचार में भी वृद्धि हुई। इस देश में जहाँ-जहाँ मुग़ल बादशाहों के अधिकारी गये, वहाँ-वहाँ अपने साथ वे इस भाषा को भी लेते गये। अब इस समय इस भाषा का प्रचार इतना बढ़ गया है कि कोई प्रान्त, कोई सूबा, कोई शहर ऐसा नहीं जहाँ इसके बोलनेवाले न हों। बंगाली, मदरासी, गुजराती, महाराष्ट्र, नेपाली आदि लोगों की बोलियाँ जुदा-जुदा हैं। पर वे यदि हिन्दी बोल नहीं सकते तो प्राय: समझ ज़रूर सकते हैं। उनमें से अधिकांश तो ऐसे हैं जो बोल भी सकते हैं। भिन्न-भिन्न भाषायें बोलनेवाले जब एक दूसरे से मिलते हैं तब वे अपने विचार हिन्दी ही में प्रकट करते हैं। उस समय और कोई भाषा काम नहीं देती। इससे

इसी को हिन्दुस्तान की प्रधान भाषा मानना चाहिए। और यदि देश भर में कभी एक भाषा होगी तो यही होगी।

"हिन्दुस्तानी" नाम यद्यपि अँगरेज़ों का दिया हुआ है तथापि है बहुत सार्थक। इससे हिन्दुस्तान भर में बोली जानेवाली भाषा का बोध होता है। यह बहुत अच्छी बात है। इस नाम के अन्तर्गत साहित्य की हिन्दी, सर्वसाधारण हिन्दी, दक्षिणी हिन्दी और उर्दू सबका समावेश हो सकता है। अतएव हमारी समझ में इस नाम को स्वीकार कर लेना चाहिए।

उर्दू

उर्दू कोई जुदी भाषा नहीं। वह हिन्दी ही का एक भेद है; अथवा यों कहिए कि हिन्दुस्तानी की एक शाखा है। हिन्दी और उर्दू में अन्तर इतना ही है कि हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और संस्कृत के शब्दों की उसमें अधिकता रहती है। उर्दू, फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है और उसमें फ़ारसी, अरबी के शब्दों की अधिकता रहती है। "उर्दू" शब्द "उर्दू-ए-मुअल्ला" से निकला है जिसका अर्थ है "शाही फ़ौज का बाज़ार"। इसी से किसी-किसी का ख़याल था कि यह भाषा देहली के बाज़ार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख़याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ-प्रान्त में बोला जाता है। बात सिर्फ़ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी, फ़ारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिये, जैसे कि आज-कल संस्कृत जाननेवाले हिन्दी बोलने में

आवश्यकता से ज़ियादा संस्कृत-शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिन्दुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसल्मानों या हिन्दुओं पर फ़ारसी भाषा और सभ्यता की छाया पड़ गई है वे, अन्यत्र भी, उर्दू ही बोलते हैं। बस, और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फ़ारसी, अरबी के शब्द हिन्दुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ-गये हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं, किन्तु हिन्दी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में भी अरबी, फ़ारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिन्दुस्तानी हो गये हैं और छोटे-छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक उन्हें बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिन्दी से संस्कृत के धन,वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है। अँगरेज़ी में हज़ारों शब्द ऐसे हैं जो लैटिन से आये हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे काम-याब हो सकता है?

उर्दू में यदि अरबी, फ़ारसी के शब्दों की भरमार न की जाय तो उसमें और हिन्दी में कुछ भी भेद न रहे। पर उर्दू-वालों को फ़ारसी, अरबी के शब्द लिखने और बोलने की ज़िद सी है। कोई कोई लेखक इन वैदेशिक शब्दों के लिखने में सीमा के बाहर चले जाते हैं। उनकी भाषा सर्व-साधारण को प्रायः वैसी ही मालूम होती है जैसी कि दक्षिणी अफ़रीक़ा के

जंगली आदमियों को जानसन की अँगरेज़ी यदि सुनाई जाय तो मालूम हो। बड़े बड़े वाक्य आप देखिए—में, ने, से; का, की, के; चला, मिला, हिला आदि—के सिवा आप को एक भी हिन्दुस्तानी शब्द उनमें न मिलेगा। व्याकरण भर हिन्दुस्तानी, बाक़ी सब फ़ारसी, अरबी शब्द। हमारी भाषा को शुरू-शुरू में हिन्दुओं ने भी ख़ूब बिगाड़ा है। फ़ारसी पढ़ पढ़ कर वे मुसल्मानी राज्य में मुलाज़िम हुए और फ़ारसी, अरबी के शब्दों की भरमार करके अपनी भाषा का रूप बदला। मुसल्मान तो बहुत समय तक अपना सारा काम फ़ारसी ही में करते थे। पर हिन्दुओं ने शुरू ही से ऐसी भाषा का प्रचार किया। अब तो मुसल्मान और फ़ारसीदाँ हिन्दू, दोनों ऊँचे दरजे की उर्दू लिख लिखकर इन प्रान्तों की भाषा पर एक अत्याचार कर रहे हैं।

हिन्दी

"हिन्दी" शब्द कई अर्थों का बोधक है। अँगरेज़ लोग इसके दो अर्थ लगाते हैं। कभी कभी तो वे इसे उस भाषा का बोधक समझते हैं जिसे हम, हिन्दी लिखनेवाले, इन प्रान्तों के लोग, हिन्दी कहते हैं—अर्थात् वह भाषा जो "हिन्दुस्तानी" की शाखा है और जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। कभी कभी इसे उस भाषा या बोली के अर्थ में प्रयोग करते हैं जो बंगाल और पंजाब के बीच के देहात में बोली जाती है। पर कोई कोई मुसल्मान इसे फ़ारसी का शब्द मानते हैं और "हिन्द के निवासी" के अर्थ में बोलते हैं। हिन्द (हिन्दुस्तान)

के रहनेवालों को वे हिन्दी कहते हैं। "हिन्दी" मुसलमान भी हो सकते हैं और हिन्दू भी। अमीर खुसरो ने "हिन्दी" को इसी अर्थ में लिखा है। इस हिसाब से जितनी भाषायें इस देश में बोली जाती हैं सभी हिन्दी कही जा सकती हैं।

जिसे हम हिन्दी या उच्च हिन्दी कहते हैं वह देवनागराक्षर में लिखी जाती है। इसका प्रचार कोई सौ-सवा सौ वर्ष के पहले न था। उसके पहले यदि किसी को देवनागरी में गद्य लिखना होता था तो वह अपने प्रान्त की भाषा—अवधी, बघेली, बुँदेली या ब्रज-भाषा आदि—में लिखता था। लल्लू-लाल ने प्रेमसागर में पहले पहल यह भाषा देवनागरी अक्षरों में लिखी, और उर्दू लिखनेवाले जहाँ अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रयोग करते वहाँ उन्होंने अपने देश के शब्द प्रयोग किये। याद रहे, लल्लूलाल ने कोई भाषा नहीं ईजाद की। उनके प्रेमसागर की भाषा दोआब में पहले ही से बोली जाती थी। पर उसी को उन्हों ने प्रेमसागर में प्रयोग किया और आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द भी उसमें मिलाये। तभी से गद्य की वर्तमान हिन्दी का प्रचार हुआ। गद्य पहले भी था। कितनी ही पुस्तकों की टीकायें आदि गद्य में लिखी गई थीं। पर वे सब प्रान्तिक भाषाओं में थीं। लल्लूलाल ने वर्तमान हिन्दी की नींव डाली और उसमें उन्हें कामयाबी भी हुई। यहाँ तक कि अब स्वप्न में भी किसी को गद्य लिखते समय अपने प्रान्त की अवधी, बघेली या ब्रज-भाषा याद नहीं आती। पद्य लिखने में वे चाहे उनका भले ही अब तक पिण्ड न छोड़ें।

हिन्दी में एक बड़ा भारी दोष इस समय यह घुस रहा है कि उसमें अनावश्यक संस्कृत शब्दों की भरमार की जाती है। इसका उल्लेख हम एक जगह पहले भी कर आये हैं। इससे हिन्दी और उर्दू का अन्तर बढ़ता जाता है, यह न हो तो अच्छा। इन प्रान्तों की गवर्नमेंट ने बड़ा अच्छा काम किया जो प्रारम्भिक शिक्षा की पाठ्य-पुस्तकों की भाषा एक कर दी। उर्दू और हिन्दी दोनों में उसने कुछ फ़र्क नहीं रक्खा। फ़र्क सिर्फ़ लिपि का रक्खा है। अर्थात् कुछ पुस्तकें फ़ारसी लिपि में छापी जाती हैं, कुछ नागरी में। यदि हम लोग हिन्दी में संस्कृत के और मुसल्मान उर्दू में अरबी-फ़ारसी के शब्द कम लिखें तो दोनों भाषाओं में बहुत थोड़ा भेद रह जाय और सम्भव है, किसी दिन दोनों समुदायों की लिपि और भाषा एक हो जाय। इससे यह मतलब नहीं कि संस्कृत कोई न पढ़े। नहीं, हिन्दू और मुसल्मान जो चाहें शौक़ से संस्कृत, अरबी और फ़ारसी पढ़ सकते हैं। पर समाचार-पत्रों, मासिक पुस्तकों और सर्वसाधारण के लिए उपयोगी पुस्तकों में जहाँ तक संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्दों का कम प्रयोग हो अच्छा है। इससे पढ़ने और समझनेवालों की संख्या बढ़ जायगी जिससे बहुत लाभ होगा।

पद्य

"हिन्दुस्तानी," अर्थात् वर्तमान बोल-चाल की भाषा, के सबसे पुराने नमूने उर्दू की कविता में पाये जाते हैं। उर्दू क्यों उसे रेख़्ता कहना चाहिए। सोलहवीं सदी के अन्त में इसी भाषा में कविता होने लगी। दक्षिण में इस कविता का

आरम्भ हुआ। कोई १०० वर्ष बाद औरंगाबाद के वली नामक शायर ने उसकी बड़ी उन्नति की। वह "रेख़्ता का पिता" कहलाया। धीरे-धीरे देहली में भी इस कविता का प्रचार हुआ। अठारहवीं सदी के अन्त में सौदा और मीर तक़ी ने इस कविता में बड़ा नाम पाया। इसके बाद लखनऊ में भी इस भाषा के कितने ही नामी-नामी कवि हुए और कितने ही काव्य बने। और अब तक बराबर इसमें कविता होती जाती है। खेद है, हिन्दी में अभी कुछ ही दिन से बोल-चाल की भाषा में कविता शुरू हुई है।

डाक्टर ग्रियर्सन की राय है कि गद्य की हिन्दी, अर्थात् बोल-चाल की भाषा, में अच्छी कविता नहीं हो सकती। दो एक आदमियों ने गद्य की भाषा में कविता लिखने की कोशिश भी की; पर उन्हें बेतरह नाकामयाबी हुई और उपहास के सिवा उन्हें कुछ भी न मिला। इस पर हमारी प्रार्थना है कि डाक्टर साहब की राय सरासर ग़लत है। यदि दो-एक आदमी गद्य की हिन्दी में अच्छी कविता न लिख सके तो इससे यह कहाँ साबित हुआ कि कोई नहीं लिख सकता। डाक्टर साहब जब से विलायत गये हैं तब से इस देश के हिन्दी-साहित्य से आपका सम्पर्क छूट सा गया है। अब उनको चाहिए कि अपनी पुरानी राय बदल दें। बोल-चाल की भाषा में कितनी ही अच्छी-अच्छी कवितायें निकल चुकी हैं और बराबर निकलती जाती हैं। जितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध समाचार-पत्र और सामयिक पुस्तकें हिन्दी की हैं उनमें अब बोल-चाल की भाषा की अच्छी-अच्छी कवितायें हमेशा ही

प्रकाशित हुआ करती हैं। जब उर्दू और हिन्दी प्रायः एक ही भाषा है और उर्दू में अच्छी कविता होती है तब कोई कारण नहीं कि हिन्दी में न हो सके—

बात अनोखी चाहिए भाषा कोई होय।

गद्य

बोल-चाल की भाषा की कविता में उर्दू—उर्दू क्यों हिन्दुस्तानी—यद्यपि हिन्दी से जेठी है, तथापि गद्य दोनों का साथ ही साथ उत्पन्न हुआ है; कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज के लिए उर्दू और हिन्दी की पुस्तकें एक ही साथ तैयार हुई थीं। लल्लूलाल का प्रेमसागर और मीर अम्मन का बाग़ो-बहार एक ही समय की रचना है। तथापि उर्दू भाषा और फ़ारसी अक्षरों का प्रचार सरकारी कचहरियों और दफ़्तरों में हो जाने से उर्दू ने हिन्दी की अपेक्षा अधिक उन्नति की। कुछ दिनों से समय ने पलटा खाया है। वह हिन्दी की भी थोड़ी बहुत अनुकूलता करने लगा है। हिन्दी की उन्नति हो चली है। कितने ही अच्छे-अच्छे समाचार-पत्र और मासिक पुस्तकें निकल रही हैं। पुस्तकें भी अच्छी-अच्छी प्रकाशित हो रही हैं। आशा है बहुत शीघ्र उसकी दशा सुधर जाय। हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में गुण इतने हैं कि बहुत ही थोड़े साहाय्य और उत्साह से वह अच्छी उन्नति कर सकती है।

लिपि

जिसे हिन्दुस्तानी कहते हैं, अर्थात् जिसमें फ़ारसी-अरबी के क्लिष्ट शब्दों का जमघटा नहीं रहता, वह तो देवनागरी लिपि में लिखी जा सकती ही है। उसकी तो कुछ बात ही नहीं। जिसे

उर्दू कहते हैं—जिसमें आजकल मुसल्मान और उर्दूदाँ हिन्दू अख़बार और साधारण विषयों की पुस्तकें लिखते हैं—वह भी देवनागरी लिपि में लिखी जा सकती है। पर डाकृर ग्रियर्सन की राय है कि वह नहीं लिखी जा सकती। खेद है, हमारी राय आप की राय से नहीं मिलती। कुछ दिन हुए इस विषय पर हमने एक लेख सरस्वती में प्रकाशित किया है और यथाशक्ति इस बात को सप्रमाण साबित भी कर दिया है कि उर्दू के अख़बारों और रिसालों की भाषा अच्छी तरह देवनागरी में लिखी जा सकती है, और लेख का मतलब समझने में किसी तरह की बाधा नहीं आती। मुसल्मान लोग अपने अरबी-फ़ारसी के धार्मिक तथा अन्यान्य ग्रन्थ आनन्द से फ़ारसी, अरबी लिपि में लिखें। उनके विषय में किसी को कुछ नहीं कहना। कहना साधारण साहित्य के विषय में है जो देवनागरी लिपि में आसानी से लिखा जा सकता है। देवनागरी लिपि के जाननेवालों की संख्या फ़ारसी लिपि के जाननेवालों की संख्या से कई गुना अधिक है। इस दशा में सारे भारत में फ़ारसी लिपि का प्रचार होना सर्वथा असम्भव और नागरी का सर्वथा सम्भव है। यदि मुसल्मान सज्जन हिन्दुस्तान को अपना देश मानते हों, यदि स्वदेश-प्रीति को भी कोई चीज़ समझते हों, यदि एक लिपि के प्रचार से देश को लाभ पहुँचना सम्भव जानते हों तो हठ, दुराग्रह और कुतर्क छोड़कर उन्हें देवनागरी लिपि सीखनी चाहिए।

———